विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७९ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क-१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—: ० :—

कवर चित्र परिचय––स्वामी विवेकानन्द

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १७] अप्रैल – मई – जून ★ १९७९ ★ [अंक २

सन्त-हृदय

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥

——सन्त-हृदय महापुरुष शान्त और उदार होते हैं तथा ऋतुराज वसन्त के समान दूसरों का हित करते रहते हैं; वे स्वयं तो इस भयंकर संसार-सागर को तो पार कर चुके होते हैं तथा दूसरों को भी विना कारण ही पार करने में सहायता प्रदान करते रहते हैं।

—विवेकचूड़ामणि, ३९

अग्नि-मंत्र

(श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

दार्जिलिंग

१९ मार्च, १८९७

शुभमस्तु । आशीर्वादप्रेमालिंगनपूर्वकमिदं भवतु तव प्रीतये । पाञ्चभौतिकं मे पिंजरमधुना किंचित्सुस्थतरम् । अचलगुरोर्हिमनिमण्डितशिखराणि पुनरुज्जीवयन्ति मृतप्रायानपि जनानिति मन्ये । श्रमबाधापि कथञ्चिद्दूरीभूतेत्यनुभवामि । यत्ते हृदयोद्वेगकरं मुमुक्षुत्वं लिपिभङ्गया व्यञ्जितं, तन्मया अनुभूतं पूर्वम् । तदेव शाश्वते ब्रह्मणि मनः समाधातुं प्रसरति । 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' ज्वलतु सा भावना अधिकमधिकं यावन्नाधिगतानामेकान्तक्षयः कृताकृतानाम् । तदनु सहसैव ब्रह्मप्रकाशः सह समस्तविषयप्रध्वंसैः । आगामिनी सा जीवन्मुक्तिस्तव हिताय तवानुरागदार्ढ्येनैवानुमेया । याचे पुनस्तं लोकगुरुं महासमन्वयाचार्यं श्री १०८ रामकृष्णं आविर्भवितुं तव हृदयोद्देशे येन वै कृतकृतार्थस्त्वं आविष्कृतमहाशौर्यः लोकान् समुद्धर्तुं महामोहसागरात् सम्यग्यतिष्यसे । भव चिराधिष्ठित ओजसि । वीराणामेव करतलगता मुक्तिर्न कापुरुषाणाम् । हे वीराः, बद्धपरिकराः भवत; सम्मुखे शत्रवः महामोहरूपाः । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति निश्चितेऽपि समधिकतरं

कुरुत यत्नम्। पश्यत इमान् लोकान् मोहग्राहग्रस्तान्। शृणुत अहो तेषां हृदयभेदकरं कारुण्यपूर्णं शोकनादम्। अग्रगाः भवत अग्रगाः हे वीराः, मोचयितुं पाशं बद्धानाम्, श्लथयितुं क्लेशभारं दीनानाम्, द्योतयितुं हृदयान्धकूपं अज्ञानाम्। अभीरभीरिति घोषयति वेदान्तडिण्डिमः। भूयात् स भेदाय हृदयग्रन्थीनां सर्वेषां जगन्निवासनामिति।

सर्वैकान्तशुभभावुकः विवेकानन्दः।

(हिन्दी अनुवाद)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय।

शुभ हो। आशीर्वाद तथा प्रेमालिंगनपूर्ण यह पत्र तुम्हें सुख प्रदान करे। इस समय मेरा पांचभौतिक देहपिंजर पहले की अपेक्षा कुछ ठीक है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतराज हिमालय का बर्फ से आच्छादित शिखर-समूह मृतप्राय मानवों को भी सजीव बना देता है। मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि रास्ते की क्लान्ति भी कुछ घट चुकी है। तुम्हारे हृदय में मुमुक्षुत्व के प्रति जो उत्कण्ठा है, जो तुम्हारे पत्र से व्यक्त होती है, मैंने उसे पहले से ही अनुभव कर लिया है। यह मुमुक्षुत्व ही क्रमशः नित्यस्वरूप ब्रह्म में एकाग्रता की सृष्टि करता है। 'मुक्ति-लाभ करने का और दूसरा मार्ग नहीं है।' जब तक तुम्हारे समूचे कर्म का पूर्ण रूप से क्षय न हो, तब तक तुम्हारी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती

जाय । अनन्तर तुम्हारे हृदय में सहसा ब्रह्म का प्रकाश होगा तथा उसके साथ ही साथ सारी विषय-वासनाए नष्ट हो जायँगी । तुम्हारे अनुराग की दृढ़ता से ही यह स्पष्ट है कि तुम शीघ्र ही अपनी कल्याणप्रद उस जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त करोगे । अब मैं उस जगत्-गुरु महासमन्वयाचार्य श्री १०८ रामकृष्ण देव से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे हृदय में वे आविर्भूत हों, जिससे तुम कृतकृत्य तथा दृढ़चित्त होकर महा-मोहसागर से लोगों के उद्धार के लिए प्रयत्न कर सको । तुम चिर तेजस्वी बनो । वीरों के लिए मुक्ति करतलगत है, कापुरुषों के लिए नहीं । हे वीरो, कटिबद्ध हो, तुम्हारे सामने महामोहरूप शत्रु-समूह उपस्थित है । 'श्रेय-प्राप्ति में अनेक विघ्न हैं'––यह निश्चित है, फिर भी अधिकाधिक प्रयत्न करते रहो । महामोह के ग्राह से ग्रस्त लोगों की ओर दृष्टिपात करो, हाय, उनके हृदयबेधक करुणापूर्ण आर्तनाद को सुनो । हे वीरो, बद्धों को पाशमुक्त करने के लिए, दरिद्रों के कष्टों को कम करने के लिए तथा अज्ञजनों के अन्दर का असीम अन्धकार दूर करने के लिए आगे बढ़ो । बढ़ते जाओ––सुनो, वेदान्त दुन्दुभि बजाकर निडर बनने की कैसी उद्घोषणा कर रहा है । वह दुन्दुभि-घोष समस्त जगद्वासियों की हृदय-ग्रन्थियों को विच्छिन्न करने में समर्थ हो ।

तुम्हारा परम शुभाकांक्षी, विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

गृहस्थ भक्तों के संसार में लापरवाही और अस्तव्यस्तता माँ पसन्द नहीं करती थीं। अपनी समस्त सन्तानों के प्रति उनकी यही सीख थी कि भगवान् का ही संसार है और यहाँ उन्होंने हमें जिस कार्य में रखा है, उनपर निर्भर रहते हुए वह भरसक अच्छी तरह सम्पन्न करने की सतत चेष्टा करनी चाहिए। भक्तों को माँ उपदेश देतीं––"दुःख-कष्ट होता है, ठाकुर को पुकारो, वे ही रास्ता दिखा देंगे।" अपने कर्तव्य से भागनेवाले व्यक्ति के लिए माँ दुःख प्रकट करतीं और कहतीं, "ठाकुर को तो अपने शरीर के कपड़े की भी सुध न रहती थी, पर मेरे लिए कितनी चिन्ता करते थे !" वे बतातीं कि ठाकुर उनका खूब ख्याल रखते थे। वे कहाँ रहेंगी, खाना-पहिनना कैसे चलेगा, इसके लिए चिन्तित हो ठाकुर विशेष विशेष भक्तों से पूछते "क्यों जी, छह-सात सौ रुपये होने पर गाँव में एक स्त्री का गुजारा चल जाएगा ?" माँ ने बतलाया था, "ठाकुर ने इसके लिए कुछ रुपयों का प्रबन्ध कर दिया था।" माँ से एक दिन ठाकुर ने पूछा, "अच्छा रुपये कहाँ रखे हैं ?" माँ ने उत्तर दिया, 'मसाले की हाँड़ी में।" ठाकुर व्यग्र हो बोले, "रुपये क्या इस प्रकार रखते हैं !" कुछ रुपयों का जुगाड़ हुआ था (सुनते हैं छह

सौ रुपये हुए थे)। बाद में यह राशि बलराम बोस की जमींदारी के दफ्तर में जमा हुई थी और माँ को ब्याज के रूप में प्रति माह कुछ (६ रुपये) मिलता था। इस प्रसंग में अपने लिए ठाकुर की चिन्ता का उल्लेख कर माँ हँसते हुए कहतीं, "अब देखो न, उनकी इच्छा से कितना रुपया आ रहा है और जा रहा है।" कामारपुकुर में माँ ने ठाकुर का घर बँटवारे में पाया था; ठाकुर ने उन्हें वह घर न छोड़ने के लिए एवं उसको सुरक्षित रखने के लिए कहा था। माँ ने सदैव उस घर को यत्नपूर्वक मरम्मत करवाकर सुरक्षित रखा। यद्यपि वे अपने अन्तिम दिनों में उसमें रह नहीं पायीं, फिर भी जब वह खाली रहता, वे अपने कामारपुकुर-दर्शनार्थी शिष्यों से उस घर में रात्रि-वास करने के लिए कहतीं। सदैव परमात्मा में अपना मन रखनेवाली, त्याग की जीती-जागती मूर्ति इस अद्‌भुत संन्यासिनी के व्यावहारिक संसार-ज्ञान और वर्तन को देख विस्मय का ठिकाना न रहता। ऐसा लगता है कि देहधारी जीव को किस प्रकार संसार-यात्रा करनी चाहिए यह सिखाने के लिए ही उन्होंने शरीर धारण किया था। उन्होंने स्वयं करके दिखा दिया कि जब जो करोगे, वह सोलह आने मन देकर कैसे करोगे। उन्होंने सिखाया कि जैसे संसार की एकमात्र सारवस्तु श्रीभगवान् का भजन पूरे मनोयोग के साथ एकाग्र

चित्त से करना पड़ता है, उसी प्रकार संसार को असार समझते हुए भी जब तक शरीर है, तब तक उसकी भलीभाँति रक्षा करते हुए, बनते तक दूसरों को कष्ट न देते हुए, सोच-विचार के साथ जीवन-यात्रा का निर्वाह करना चाहिए।

यह पहले लिखा जा चुका है कि किसी सन्तान का सेवा के लिए विशेष आग्रह देख माँ ने उसके पास मूल्यवान् वस्त्रों को खरीदने में रुपये न खर्च कर साधुभक्तों की सेवा के लिए धान की जमीन खरीद देने के लिए अपना मत व्यक्त किया था। मामा लोगों के घर से जुड़ी हुई कलपुकुर के किनारे की जमीन के एक टुकड़े की तब बिकने की बात थी——उस जमीन को सौ से कुछ अधिक रुपयों में लेने की चर्चा चली और भक्त ने खुशी से रुपये भी भिजवा दिये। किन्तु बाद में बेचनेवाले का विचार बदल गया और वह जमीन बेचने के लिए तैयार नहीं हुआ। माँ ने कुछ दिन बाद एक भक्त-सन्तान को, जो इस विषय में कुछ जानता था, लिखा, "बेटा, जमीन तो इस समय खरीदना नहीं हुआ, रुपये हाथ में रहने से ही खर्च हो जाते, इसलिए कोआलपाड़ा में केदार के पास भिजवा दिया है, धान खरीदने के लिए——इस समय धान खूब सस्ता है। जब जरूरत होगी, धान बेचते ही रुपया मिला जायगा। उसमें और कुछ मिलाकर २००) पूरा कर दिया है धान खरीदकर रखने के

लिए।" सुविधानुसार जमीन न मिलने से फिर खरीदना नहीं हुआ, किन्तु कुछ समय बाद जब यही धान काम में लगा, तब तक उसका दाम चारगुना बढ़ गया था। बाद में माँ की कृपा से जयरामवाटी में उनकी और साधु-भक्तों की सेवा के लिए बहुत-सी धान की जमीन खरीदने की व्यवस्था हुई थी।

जयरामवाटी में नया मकान बनने पर ग्राम पंचायत ने उस पर चौकीदारी टैक्स लगा दिया था और माँ की अनुपस्थिति में पहले साल एक शिष्य-सन्तान ने, जो उस समय वहाँ था, ८) वार्षिक टैक्स पटा भी दिया। उसके बादवाले साल माँ गाँव में ही थीं। टैक्स लेने के लिए आने पर माँ ने वहाँ उपस्थित शिष्य-सन्तान को टैक्स बन्द करवाने के लिए आदेश दिया। माँ ने उससे कहा, "अभी मैं यहाँ हूँ, न हुआ तो टैक्स का पैसा दे दिया, किन्तु बाद में जो साधु-ब्रह्मचारी रहेगा, उसे तो शायद भिक्षा करके ही खाना पड़े। वह कहाँ से पैसा पायगा ? टैक्स बन्द कराने की कोशिश करो।" इसके लिए माँ ने विशेष आग्रह के साथ स्वयं के नाम से एक अर्जी लिखवा उस सन्तान को प्रेसिडेंट के पास भेजा था। भले ही उस बार टैक्स देना पड़ा था, पर अगली बार से टैक्स नहीं देना होगा ऐसा वचन प्राप्त हुआ था। दूसरे साल फिर से माँ ने यथासमय एक सन्तान-शिष्य को भेजकर खोज करवायी थी और टैक्स लगना बन्द हुआ था।

प्रत्येक वर्ष जिस समय आवश्यक वस्तुएँ--जैसे, चावल, दाल, गुड़ इत्यादि---सस्ती और अच्छी मिलतीं, माँ उसी समय उनके खरीदने की व्यवस्था करतीं। बरसात के पहले ही जलाऊ लकड़ी लेकर रख लेना, घर-दरवाजे की मरम्मत करवा लेना, छाजन-छप्पर आदि ठीक करवा लेना--ये सब काम वे भलीभाँति करवा लेतीं। वे गोबर से लिपाई-सफाई करवातीं। इसका ख्याल रखतीं कि कोई चीज बेकार न जाय। पार्सल-पैकेट के कागज आदि को वे सम्हालकर रखवातीं, जिससे समयानुसार उनका उपयोग हो सके। वे देखतीं कि सब्जी तथा फल के छिलके, भात का माँड़ गाय को दिये गये हैं। और गरीब-दुःखी कोई न आने पर बचा हुआ अन्न नष्ट न हो इसलिए वह भी गाय को खिला दिया जाय, इसकी व्यवस्था करतीं। इन सब कामों में गोलाप-माँ की सतर्क दृष्टि और सुव्यवस्था की प्रशंसा करती हुई माँ दूसरों को शिक्षा देने के लिए कहतीं, "गोलाप मेरी कोई भी चीज खराब नहीं करेगी, यहाँ तक कि गन्ने की चूसी हुई गँड़ेरिया भी सुखाकर रख लेगी, जिससे आग जलाने के काम आ सके।"

अनेक शिष्य-सन्तान प्रत्येक महीने और कोई कोई बीच बीच में माँ की सेवा के लिए रुपये भिजवाते थे। पूजनीय मास्टर महाशय ('श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक) हर महीने नियमित रूप से

१०) भिजवाते, समय समय पर अतिरिक्त भी देते। मनीआर्डर कूपन में वे लोग अपनी बात लिखते और प्रणाम आदि जनाते। माँ उन सबको यथायोग्य उत्तर दिलवातीं। सबको माँ के अँगूठे का निशान देख और उनका शुभाशीर्वाद पा विशेष तृप्ति और आनन्द का अनुभव होता। एक बार एक छोटी बालिका ने माँ को पत्र लिखा और साथ में स्वरचित 'माँ की स्तुति' कविता भेजी। कई प्रकार से व्यस्त होने के कारण माँ को इस पत्र का उत्तर देने में विलम्ब हुआ। इस बीच बालिका ने एक और पत्र लिखकर जानना चाहा कि माँ को उसका पहला पत्र और कविता मिली या नहीं। माँ पत्र सुनकर मृदु हास्यपूर्वक बोलीं, "प्रशंसा सुनना चाहती है।" जल्दी से जवाब दिलवाया। कविता पाने की खबर देते हुए, प्रशंसा करते हुए, प्रसन्नता व्यक्त करते हुए और शुभाशीर्वाद देते हुए पत्र लिखवाया।

एक भक्त माँ को नित्य रुपये भिजवाता है, दूर रहने पर भी माँ के यहाँ आया-जाया करता है। माँ के घर के काम-काज के लिए और भक्त-सन्तानों के लिए भी यथाशक्ति खर्च करता है। माँ और माँ के मकान के लिए उसका आन्तरिक खिंचाव दिखायी पड़ता है। वह जो नौकरी करता है, उससे उसे ज्यादा तनख्वाह नहीं मिलती, इसलिए पूरी तृप्ति के साथ खर्च न कर पाने का उसे क्षोभ रहता है। उसने माँ

को एक पत्र लिखा, सूचित किया कि एक दूसरी नौकरी पाने की सम्भावना है, जिसमें अधिक वेतन मिलेगा। उसने पूछा कि वह इस नयी नौकरी के लिए चेष्टा करे या न करे। जिस नौकरी में वह अभी है, उसमें यद्यपि आय कम है, पर बहुत दिनों से उसमें रहने के कारण सबके साथ उसकी जान-पहचान है और इसलिए सुख और शान्ति से समय कट रहा है। नयी नौकरी में आय तो बढ़ेगी और वह इच्छानुसार व्यय भी कर सकेगा, पर उसे भय है कि जाने कैसे लोगों के बीच रहना पड़े, इससे कहीं दुःख और अशान्ति तो नहीं बढ़ जायगी, यही सब चिन्ता उसके मन में बनी हुई है। उसने माँ की राय जानने की प्रार्थना की है। माँ ने अच्छी तरह पत्र को सुना, विचार किया और फिर बोलीं, "जो आय है, उसी में तो ठाकुर की कृपा से सब चल ही रहा है; रुपये के लिए नये स्थान में जाकर अनजान लोगों के बीच वाद में दुःख-अशान्ति कहीं न बढ़ जाय। सन्तुष्ट होकर जहाँ हो वहीं पड़े रहना ठीक मालूम पड़ता है—ऐसा लिख दो।"

माँ के एक शिष्य-सन्तान ने लिखा है कि वह विवाह न कर त्याग के पथ में ही जीवनयापन करने के लिए दृढ़संकल्पित है, किन्तु उसके पिता इसके घोर विरोधी हैं और वे नाना उपायों से उसे संसार की ओर खींचकर डुबो देने की चेष्टा कर रहे हैं। पत्र

की करुण गाथा सुनकर माँ का हृदय विगलित हो गया। अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहने लगीं, "देखो तो, बाप होकर बेटे के माथे पर कुल्हाड़ी मारना चाहता है, लड़के का सर्वनाश करना चाहता है—लड़का दुःख में पड़कर लिख रहा है।" माँ ने लड़के को आश्वासन दे आशीर्वाद जनाते हुए जवाब दिलवाया। उनकी कृपा से लड़के की सब विपत्ति कट गयी। धीरे धीरे पिता की मति परिवर्तित हुई, वे पुत्र पर प्रसन्न हो उसके धर्म-पथ में सहायक हुए और पुत्र ने भी अपने वृद्ध पिता की प्राणपण से सेवा-शुश्रूषा कर शेष समय में उनका आन्तरिक स्नेह और शुभाशीर्वाद प्राप्त किया।

एक सज्जन ने पत्र लिखा है कि वे एक वृद्ध ब्राह्मण हैं। अपने जिस पुत्र को लिखा-पढ़ाकर उन्होंने मनुष्य बनाया, जिस पर उन्होंने भरोसा किया कि वह दो पैसे कमाकर उनकी देखभाल करेगा, उसने कुछ दिन पूर्व श्री माँ से दीक्षा ग्रहण की है और सम्प्रति साधु बनने के उद्देश्य से अपने माता-पिता को त्यागकर एक आश्रम में चला गया है। उसकी गर्भधारिणी माँ शोक से शय्याशायी हो गयी है। वे स्वयं वृद्ध और निरुपाय हैं और आँखों से भी कम दिखायी पड़ता है। उन्होंने पत्र में अत्यन्त करुण भाषा में अपनी दुःख की कहानी निवेदित की है और पुत्र को वापस दिलाने की प्रार्थना की है।

पत्र सुनकर माँ ने दुःख प्रकट किया और कहने लगीं, "हाय ! न जाने वृद्ध ब्राह्मण मुझे कितना शाप दे रहे होंगे ! देने की बात ही है। कितना कष्ट सह-कर, कितनी आशा और भरोसा लेकर लड़के को आदमी बनाया, और अब वह अचानक भाग गया !" वृद्ध ब्राह्मण को बहुत सान्त्वना देते हुए जवाब लिखा गया। माँ ने उनको सूचित करवाया कि इस विषय में वे कुछ भी नहीं जानतीं, लड़के ने उन्हें कुछ नहीं बतलाया है, वह अपनी इच्छा से ही साधु हुआ है—वे क्या करें, इस विषय में उनका कोई हाथ नहीं। भगवान् के निकट कातर भाव से प्रार्थना करने के लिए कहा और जनाया कि भगवान् अवश्य ही उनकी रक्षा करेंगे, अतएव वे अपनी दुश्चिन्ता का त्याग करें। बाद में माँ पत्रलेखक सन्तान को सम्बो-धित करके बोलीं, "बेटा, ये मूरख लड़के अचानक इस प्रकार क्यों करते हैं ? इससे ये अपने माँ-बाप को भी कष्ट देते हैं और खुद भी दुःख भोगते हैं ! कुछ समय तक आश्रम में आते-जाते रहना चाहिए, कुछ समय साधुओं के साथ रहना चाहिए। इससे धीरे धीरे माँ-बाप को सहन हो जाता है, उन्हें समझ में आ जाता है कि लड़के की मति-गति कैसी है, तब उसके छोड़कर चले जाने पर मन में उतना नहीं लगता।" माँ के उस शिष्य को तब भले ही घर लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा था, पर कुछ समय

माता-पिता के निकट रहकर उसने धीरे धीरे उनकी सम्मति प्राप्त कर संसार का त्याग किया था, और जब तक वे लोग जीवित थे, वह बराबर उनका कुशल-क्षेम लेता रहता, बीच बीच में उनसे मिलता रहता और इस प्रकार स्नेह-प्रीति का सम्बन्ध उसने बराबर बनाये रखा।

माँ के एक विशिष्ट शिष्य ने अपने किसी कार्य की सफलता के लिए माँ के शुभाशीर्वाद की प्रार्थना की थी। उसने बहुत पहले माँ के गाँव पहुँच उनसे दीक्षा ली थी, उसके बाद भी वह एक बार जयरामवाटी आया था और माँ के श्रीचरणों के समीप रहकर अपने रचित मनोहर गीतों से माँ का मनोरंजन किया था। वह नाना प्रकार से ठाकुर के जीवन और सन्देश के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ था। उसने अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त करने की आशा से श्री माँ के शुभाशीर्वाद की प्रार्थना की थी। माँ ने पत्र सुना, स्नेहाशीष जनाया, "ठाकुर की कृपा से तुम्हारी इच्छा पूरी हो" लिखवाया। इसके बाद लेखक-सन्तान को सुनाकर मृदु स्वर में बोलीं, "उनकी इच्छा से ही होगा।"

ढाका स्थित रामकृष्ण मिशन के कुछ भक्तों के नाम से युक्त एक छपा हुआ पत्र जयरामवाटी आया था—उसमें सूचना थी कि माँ को पूर्व बंग (आजकल बाँगला देश) ले जाने का आयोजन हो

रहा है। किसी भक्त ने जब यह बात माँ के सामने उठायी, तब माँ ने उस सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए हँसकर कहा, "चन्दा इकट्ठा करेंगे तो?" और उस पत्र का उद्देश्य सचमुच चन्दा-उगाही ही था—माँ का भ्रमण-व्यय जुटाने के लिए। माँ की ऐसी सूक्ष्म दृष्टि देख शिष्य विस्मित हो चुप हो गया। माँ कहने लगीं, "बेटा, लोग-बाग तमाशा लेकर ही मस्त हैं! खाली तमाशा और तमाशा! और चन्दा! यही देखो न, ठाकुर को लेकर एक नया तमाशा उठ खड़ा हुआ है!" बहुत से भक्त माँ को अपने अपने अंचल में ले जाने की आन्तरिक अभिलाषा रखते और समय समय पर वे विशेष आग्रहवान् हो आयोजन की चेष्टा भी करते, किन्तु उनकी इस इच्छा का पूर्ण होना बड़ा कठिन व्यापार था। माँ से प्रार्थना करने पर वे कहतीं, "बेटा, मैं क्या जानूँ! ठाकुर की जो इच्छा, जहाँ जब रखें!" अधिक आग्रह करने पर बहुत हुआ तो वे कहतीं, "शरत् से पूछो।" और शरत् महाराज तो कुछ कहते ही न थे। उन्होंने कितना कष्ट उठाकर 'उद्‌बोधन' का घर बनवाया था, मन में कितनी साध थी कि माँ को वहाँ रख उनकी सेवा करें, पर वही सहज में पूर्ण नहीं होती थी।

(क्रमशः)

•

स्वामी तुरीयानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

वह बहुत दिनों पहले की बात है—लगता है सन् १९१९ अथवा १९२० होगा; स्वास्थ्य कुछ ठीक होते ही काशी गया था। तीर्थ-दर्शन या वैसा कोई उद्देश्य उस यात्रा में नहीं था। बंगाली मोहल्ले में रहता और रोज सबेरे-शाम दशाश्वमेध घाट पर घूमने जाता।

एक दिन इसी प्रकार टहल रहा था कि मेरे एक प्रकार से सहपाठी दो मित्र मिल गये। आपस में कुशल-क्षेम आदि पूछने के बाद अचानक एक मित्र ने मुझसे पूछा, "क्या तुम यहाँ रामकृष्ण मिशन नहीं जाते?" 'न' कहने पर वे कहने लगे, "वह बहुत सुन्दर स्थान है, एक दिन जरूर जाओ, हम लोग प्रायः जाते हैं।" दूसरे मित्र भी बोले, "हाँ भाई, वहाँ एक America-returned (अमेरिका से वापस आये) साधु हैं, वहाँ जाने पर उनसे बात कर सकोगे।" दूसरे मित्र की बात सुनकर मैं थोड़ा हँसा और उन्हें इशारे से मैंने बतला भी दिया था कि वह मेरे लिए कोई बड़ा प्रलोभन नहीं है। किन्तु मित्र लोग छोड़नेवाले जीव न थे। उन लोगों के बहुत अधिक आग्रह पर अन्त में उन America-returned साधु के निकट जाना ही पड़ा। ये ही थे स्वामी तुरीयानन्द अथवा श्रद्धेय हरि महाराज।

जिस दिन उनके पास पहली बार गया था,

खूब अच्छी तरह याद आता है, उस दिन वहाँ दोनों आश्रम (रामकृष्ण अद्वैत आश्रम और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम) के बहुत से साधुओं को देखा था। उनमें से अनेकों के प्रति उस दिन मेरे संशयी मन में श्रद्धा नहीं हुई थी और इसलिए साथ के बन्धुओं के द्वारा एक-एक करके सब साधुओं के भक्तिपूर्वक पैर छूने पर भी मैंने उनमें से दो-एक लोगों को ही प्रणाम किया था।

किन्तु सेवाश्रम के एक कोने में बने 'अम्बिका-धाम' में जब मैंने स्वामी तुरीयानन्दजी के प्रथम दर्शन किये, तब उनकी सौम्य मूर्ति देखकर और उनका मधुर वार्तालाप सुनकर मेरा सिर अपने आप उनके चरणों में झुक गया। उसके पश्चात् मित्रों के विशेष आग्रह और उक्त महापुरुष के अपार स्नेह से प्राय: प्रतिदिन ही उनके पास जाना होता। वे भी मेरी सब प्रकार की बातें बड़े ध्यान से सुनते। मेरी बालको-चित चंचलता की बातें सुन कभी तो खूब हँसते, और कभी तीव्र भर्त्सना कर मेरी भूल दूर करने की चेष्टा करते। ख्याल आता है, एक दिन जब शाम को उनके साथ टहल रहा था, तब काशी में बहुत से लोगों का समागम दिखाकर वे मुझसे बोले थे, "देखो, देखो, इन लोगों की कैसी भक्ति है! आज पूर्णिमा है, चन्द्र-ग्रहण होगा, इसलिए कितना कष्ट सहकर कितनी दूर दूर से ये लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं। ग्रहण के समय

गंगा-स्नान करके पवित्र होकर भगवान् का नाम लेने से ये लोग धन्य हो जाएँगे।"

हम लोगों ने तब कुछ कुछ अँगरेजी किताबें पढ़ी थीं। भूगोल में चन्द्र-ग्रहण के बारे में जो लिखा था, वह भी पढ़ा था। इसलिए महाराज की वह बात सुनकर मैं हँस पड़ा। बोला, "महाराज, ये तो कुसंस्कार हैं! राहु तो चन्द्र को नहीं ग्रसता। पृथ्वी की छाया के चन्द्र पर पड़ने से हम चन्द्र-ग्रहण देखते हैं। ये कुसंस्कार में डूबे लोग स्नान करेंगे और उन्हें पुण्य मिलेगा——इस बात पर मैं कैसे विश्वास करूँ?" महाराज भी हँस पड़े और बोल उठे, "देखता हूँ, तुम सब जान चुके हो।" उसके दूसरे दिन उनके निकट जाने पर वे सस्नेह कहने लगे, "देखो, कल ग्रहण के सम्बन्ध में तुम जो कह रहे थे, उसका एक तात्पर्य है। हमारे जो शास्त्र बनानेवाले लोग थे, वे निर्लोभी थे। किसी स्वार्थ से प्रेरित हो उन्होंने हमारे शास्त्रों के बीच ये सब पुण्यार्जन की बातें नहीं घुसेड़ीं। उनकी इच्छा थी कि सब लोग भगवान् की ओर अग्रसर हों। पर सभी तो एक ही प्रकार से आगे नहीं बढ़ सकते——इनमें भी अधिकारी-भेद है। इसीलिए हमारे शास्त्र तीन प्रकार की विधियों का निर्देश करते हैं। जो उत्तम अधिकारी हैं, उनके लिए कहा गया है, प्रतिदिन कष्ट सहकर भी भगवान् का नाम लें, उससे शान्ति मिलेगी——यह 'नियम-विधि' है। उत्तम

अधिकारी यह निर्देश पाकर प्रतिदिन भगवान् का नाम लेते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए है 'मोद-विधि', अर्थात् कुछ आनन्ददायक देकर भगवान् की ओर मन लगाने के लिए उन्हें प्रेरित करना। और जो इस पर भी भगवान् का नाम नहीं लेंगे, उनके लिए है 'दण्ड-विधि' यानी नरक आदि का भय बतलाना। ग्रहण-स्नान द्वारा पुण्य-संचय या अक्षय स्वर्ग-लाभ यह सब 'मोद-विधि' के अन्तर्गत आता है। कम से कम लोभ से ही ऐसे लोग कुछ तो भगवान् का नाम करेंगे—यही शास्त्रकारों का उद्देश्य है, दूसरा कुछ नहीं।"

याद पड़ता है, और एक दिन गंगा-स्नान की बात पर थोड़ा हँसकर मैंने महाराज से कहा था, "महाराज, गंगास्नान करने से विशेष पुण्य क्यों होगा? गंगा तो मात्र नदी है, और इस काशी की गंगा को ठीक नदी भी नहीं कह सकते।" शीतकाल में उस समय गंगा में कोई धार नहीं थी। महाराज यह सुनकर गम्भीर हो गये और बोले, "अँगरेजी के दो-एक पन्ने पढ़कर तुम लोग गंगा की इस प्रकार अवज्ञा करना सीख गये हो। पर जिनकी किताबें पढ़कर तुम ऐसे श्रद्धाहीन हुए हो, जानते हो, स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) उनके सिर पर कैसा आघात करते आये हैं? स्वामीजी इस गंगा की स्तुति करते करते किस प्रकार तन्मय हो जाया करते थे,

कुछ पता है! और क्या केवल वे, आचार्य शंकर से लेकर ऐसा कौन है, जिसने इस गंगा का माहात्म्य न गाया हो! श्रद्धावान् बनो।"

पूजनीय महाराज के पावन सान्निध्य में रहते समय एक दिन वे बोले, "तुमने गीता पढ़ी है? कल से हम लोग इन (उनके निकट बैठे नड़ाइल कालेज के अध्यापक श्री गुरुदास गुप्त) के साथ गीता पढ़ेंगे। इच्छा हो तो तुम भी इसमें शामिल हो सकते हो!" आनन्द से मैंने सम्मति जतलायी और यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त अस्वस्थ था, फिर भी दूसरे दिन से उन्होंने गीता पढ़ाना आरम्भ कर दिया। गीता पहले कुछ कुछ पढ़ी थी। किन्तु इन ज्ञानी और तपस्वी के श्रीमुख से उसने एक नवीन रूप धारण कर लिया। साधारणत: वे किसी भाष्य या टीका का उल्लेख नहीं करते थे, सरल और सहज भाव से श्लोकों की व्याख्या करते थे। किन्तु जहाँ प्रयोजन होता, वहाँ वे शंकर अथवा श्रीधर के मतामत का उल्लेख मुख से कर देते। छठे अध्याय से हमारा पाठ आरम्भ हुआ था। उन्होंने वहाँ से लेकर अठारहवें अध्याय तक पढ़ाने के बाद फिर पहले से पाँचवें अध्याय तक पढ़ाया था। जिससे हम अपने चंचल मन को स्थिर कर आत्म-चिन्तन में निमग्न हो सकें, यही लगता है उनका छठे अध्याय से पढ़ाना आरम्भ करने का उद्देश्य था।

अपरिपक्व मन से उस समय जो कुछ पढ़ा था, वह प्रायः कुछ भी याद नहीं, फिर भी याद पड़ता है मन के संयम की बात उठने पर उन्होंने कहा था कि वह बड़ा कठिन है, इसीलिए श्रीभगवान् मन को विचारादि द्वारा धीरे धीरे संयत कर आत्म-स्थित करने के लिए कहते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा था, "अमेरिका से एक भक्त ने इस विषय में मुझे लिखा था। मैंने उसके उत्तर में लिखा कि जब भी ध्यान में बैठोगे मन में यह विचार करना कि हृदय के सामने एक 'No Admission' (प्रवेश निषेध) की सूचना झूल रही है। इष्ट-चिन्तन छोड़कर और कुछ उसमें प्रवेश न कर सके, ऐसा होने से ही देखोगे अन्य सब विचार धीरे धीरे वहाँ से चले जा रहे हैं।" भक्त ने लिखा है कि सच ही इससे उसको बहुत लाभ हुआ है। इस अध्याय में जब 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' पढ़ना प्रथम आरम्भ किया, तब अत्यन्त गम्भीर स्वर में वे बार-म्बार उसे दुहराने लगे। इसके बाद बहुत दिनों तक जब भी मैं समीप आकर उन्हें प्रणाम करता, वे उसी स्वर में उसे दुहराते हुए कहते, "हाँ, इसी प्रकार स्वयं का उद्धार करना होगा, तुम्हें छोड़कर तुम्हारा उद्धारकर्ता और कोई नहीं।"

इसी प्रसंग में ख्याल पड़ता है, बाहर से उनके निकट सदुपदेश लेने की इच्छा से एक दिन आ रहा

था कि उन्हें अद्वैताश्रम के दरवाज से बाहर निकलते देखा। प्रणाम करने पर उन्होंने पूछा, "क्यों, क्या बात है?" मन की आकुलता बतलाने पर वे बोल उठे, "आगे आँखें खोलो, बाद में फिर चश्मा दिया जायगा। पहले ही चश्मा देने से कोई लाभ नहीं।" इस पुरुषार्थ पर वे बार बार जोर देते थे।

और एक बार जब उनके आदेश से कलकत्ते जाकर मैं अपनी पढ़ाई समाप्त करने की चेष्टा कर रहा था, तब इस भय से कि फिर किसी बन्धन में मैं न पड़ूँ, मैंने उनके निकट आशीर्वाद की याचना की थी। उत्तर में उन्होंने लिखा था, "बन्धन सोचने से ही तो बन्धन है, नहीं तो तुम्हें किसने बाँधा है? तुम तो सदा से मुक्त हो।"

इस प्रकार वे हम लोगों को तरह तरह से गीता पढ़ने का उत्साह देते। उनकी शैली हरदम गम्भीर रहती हो ऐसी बात नहीं। बहुत सम्भव पन्द्रहवाँ अध्याय पढ़ाते समय निर्मम होकर संसार-वृक्ष काटने की बात उठते ही वे कुछ कृत्रिम गम्भीरता दिखलाते हुए कहने लगे, "नहीं, नहीं, सु–, यह सब तुम लोग मत पढ़ो।" मैंने कुछ अकचकाकर उनसे पूछा, "क्यों महाराज?" उसके उत्तर में उन्होंने उसी प्रकार गम्भीरता दिखाते हुए कहा, "ये सब वैराग्य की बातें हैं, ये क्या पढ़नी चाहिए?" मैं हँस पड़ा, वे भी अपनी स्वाभाविक उच्च हँसी हँस पड़े। तब

मैं जानता न था कि इस प्रकार वे हम लोगों के भीतर वैराग्य की अग्नि प्रज्वलित कर दे रहे हैं।

स्वामी तुरीयानन्द के निकट जो सब युवक आते, उन्हें वे सब प्रकार से उत्साहित करते, जिससे वे श्रद्धाशील और वीर्यवान् होकर अपना जीवन गढ़ ले सकें। स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) की छबि उनके मानसपटल पर अंकित करते हुए वे कहते, "यह देखो न, स्वामीजी ही थे असल युवक; और तुम लोग ? तुम लोग तो युवक नहीं, और कुछ हो। स्वामीजी के सम्बन्ध में ठाकुर कहते थे—वह मर्द कबूतर है, चोंच पकड़ते ही झटका देकर छुड़ा लेता है, वह तेज-तर्रार बैल है, क्या मजाल कि पूँछ पर कोई हाथ रखे, छूते ही बिफर उठता है, और तुम लोग हो कि थोड़े-से में ही लोटने लगते हो। स्वामीजी जैसे युवक ही हमें चाहिए।"

ऐसी तेजस्विता की थोड़ी सी भी चिनगारी किसी युवक में देखने पर वे अत्यन्त आह्लादित होते और बार बार उसकी बात दूसरों के निकट कहते।

इसी प्रसंग में याद आता है, एक युवक अँगरेज सरकार का कोपभाजन हो दो साल की नजरबन्दी के बाद जब मुक्त हुआ, तो काशी-दर्शन के लिए आया। काशी के अन्य स्थानों के दर्शन के बाद वह रामकृष्ण मिशन के दर्शन के लिए आया और पूजनीय हरि महाराज के साथ स्वामीजी के आदर्श के सम्बन्ध

में बातें करने लगा। बातचीत के सिलसिले में वह बोला, "मैं स्वामीजी का भक्त हूँ, हम लोग इस प्रकार का सर्वत्यागी, तेजस्वी संन्यासी ही देखना चाहते हैं।" किन्तु बाद में अन्य बातें कहते कहते वह बोल उठा, "पर जो लोग संसार को झंझटों को छोड़कर चले आये हैं, उनके प्रति मेरी तनिक भी श्रद्धा नहीं है। मैं तुम लोगों को coward (कायर) कहता हूँ।"

युवक के ऐसे धृष्ट वचनों से महाराज विचलित अथवा दु:खित नहीं हुए, बल्कि हँसते हुए कहने लगे, "ठीक ही तो है। लेकिन तुम्हारे स्वामीजी भी तो इसी प्रकार संसार छोड़कर ही आये थे। उस सम्बन्ध में क्या कहते हो?" लड़का यह सुनकर थोड़ा अप्रतिभ हो गया तथा धीरे धीरे और दो-एक बातें कहने के बाद उन्हें प्रणाम कर चला गया।

लड़के के चले जाने पर महाराज बोले, "इसी प्रकार के लड़के चाहिए। देखो न, कैसे हमारे मुंह पर ही हमें coward (कायर) कह गया। स्वामीजी इसी तरह के लड़के पसन्द करते थे।"

तरुण ब्रह्मचारियों की कोई त्रुटि देखते ही वे तीव्र भर्त्सना करके उस भूल को सुधारने की चेष्टा करते, और दूसरी ओर उनमें थोड़ा भी गुण देखने पर कहते, "तुम लोग तो सोने के चाँद जैसे लडके हो, आज स्वामीजी होते, तो तुम्हें अपने सिर पर लेकर नाचते।"

सदैव के वेदान्त-तपस्वी हरि महाराज ने अन्तिम दिन तक वेदान्त की चर्चा की और उसके अनुसार कठोर जीवन यापन किया, पर उनके जीवन की सन्ध्या में मैंने देखा कि स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित कर्मयोग के ऊपर उनकी सुदृढ़ आस्था थी ! सेवाश्रम केठसाधु-कर्मियों को दिखाकर वे कहते, "ये लोग ही यीक ठीक कार्य कर रहे हैं। बाकी तो सिर्फ गप-शप करते हुए समय काट रहे हैं।"

पर वे इस ओर भी तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे कि इन साधु-कर्मियों के कार्य भी श्रद्धा और भाव से युक्त हों, कर्मयोगी के आदर्शानुसार हों। इन सब कामों में उन लोगों के भीतर अहंकार का थोड़ासा भी प्रकाश देख पाने पर वे उन लोगों को समझाकर कहते, "तुम लोग क्या ऐसा सोचते हो कि अपने इन सब कामों के द्वारा तुम लोग कोई असाधारण कार्य कर ले रहे हो? तुम लोग जो कर रहे हो, वह मैं १५ रुपये महीना देकर किसी मेहतर से करवा सकता हूँ। और आफिस में जो लोग काम करते हैं, उसके लिए शायद २० २५ रुपये मासिक खर्च करने से तुम लोगों की अपेक्षा अच्छा आदमी मिल सकता है। इसमें अहंकार की क्या बात है?"

पर यह उनके हृदय की बात नहीं थी और वह मात्र कर्मियों के अहंकार को दूर कर उन्हें शुद्ध-

भाव से काम करने की प्रेरणा देने के लिए कही गयी थी, यह हम लोग दूसरे दिन उनकी बातों द्वारा ही समझ गये।

महाराज की यह बात सुन काशी के एक प्रसिद्ध पण्डित मठ के एक साधु से कह रहे थे, "महाराज ने तो ठीक ही कहा है, आप लोगों के समान सुयोग्य लड़के यदि संसार में रहते, तो कितना काम कर सकते थे, किन्तु वह न कर कैसे साधारण से काम में आप लोग अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं!" पूजनीय महाराज के निकट यह बताया जाने पर वे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे और बोले, "वह कैसे मेरी बातों का अर्थ समझेगा? भले ही वह पण्डित हो, पर है तो संसारी। श्री ठाकुर जैसा कहते थे, 'मूली खाने से मूली की ही डकार आती है,' उसका भी वैसा ही हुआ है। हरदम से संसार में डूबा रहने-वाला आज निष्काम कर्म का अर्थ कैसे समझेगा? मैंने तो उस दृष्टि से नहीं कहा था। कहा था कि अहंकार-शून्य होकर निष्काम भाव से तुम लोग सेवा करो, उसी से तुम लोग अपने चरम लक्ष्य पर पहुँच जाओगे।"

जप-ध्यान के सम्बन्ध में भी किसी में इस प्रकार अहंकार का आभास देखते ही वे विनोद करते हुए कहते, "तुम ठाकुरघर में बैठकर क्या कर आये? माला जप रहे थे या केला मसल रहे थे?"

तात्पर्य यह कि ठीक ठीक जप-ध्यान करने से ऐसा अहंकार नहीं आता।

हम लोगों ने जब उनको देखा था, तब उनका कठोर तपस्या के द्वारा जीवन बिताने का भाव चला गया था, वेदान्त के भाव में तब उन्होंने जीवन को प्रतिष्ठित कर लिया था तथा शुद्ध आत्मा देह-मन-बुद्धि से पूर्णतः स्वतन्त्र है यह सत्य उनकी प्रत्येक बात और व्यवहार में झलकता था। शरीर असमर्थ था, बड़े कष्ट से चल पाते, फिर भी सर्वदा शास्त्र-चर्चा और दूसरों के कल्याण के लिए व्यग्र रहते। वे सर्वदा इसी का विचार करते कि कैसे हमारे भीतर चैतन्य का कुछ संचार हो। देह-बोध से पीड़ित हम लोग हरदम देह को ही सत्य मानते हैं और उसके सुख और दुःख में अपने को सुखी और दुःखी अनुभव करते हैं। पर उस महापुरुष को कठिन रोगशय्या पर भी देखा कि किस प्रकार वे सिर डुला-डुलाकर कह रहे हैं, "दुःख जाने और शरीर जाने, मन तुम आनन्द में रहो।" हम लोगों को उनका यह गान मात्र शब्दों का खेल लगता। पर जिस दिन देखा, उनकी हथेली में एक भयंकर फोड़ा हुआ है और कलकत्ते से विख्यात शल्य-चिकित्सक डा० सुरेश भट्टाचार्य ने आकर उसका आपरेशन किया है और कैसे वे रोज उस घाव को कुरेद-कुरेदकर साफ करते हैं, परन्तु फिर भी महाराज एक छोटे बच्चे के समान आनन्द करते हुए उसे

देखते रहते हैं, तब तो उक्त चिकित्सक एवं सबको सचमुच अत्यन्त विस्मय हुआ था। हम समझ न सके कि कैसे मनुष्य इस प्रकार देह-बोधशून्य हो सकता है।

और एक दिन की बात है। पूजनीय महाराज के उपदेशादि सुनकर मन में थोड़ा-सा वैराग्य जागा था, 'संसार असार है' यह बात भी मुँह से निकलती थी और कुछ कुछ विवेक-विचार भी चलता था, ऐसे समय एक लडके की बात उठने पर मैंने महाराज से कहा था, "महाराज, उसका संसार के प्रति बहुत खिचाव है।" तब 'संसार' कहने से मैं आत्मीय-स्वजन, घर-बार ही समझता था। पर इसके अति-रिक्त भी 'संसार' का और कोई अर्थ हो सकता है यह नहीं जानता था। महाराज ने मेरी इस धृष्टता-पूर्ण बात को सुनकर केवल इतना कहा था, "ठीक है, पर जान लो, शरीर भी ससार है।" यह सुन उस समय सच ही सिर पर बिजली-सी गिरी थी। जिस शरीर का विचार मैं नित्य करता, जिसकी स्वस्थता-अस्व-स्थता के बारे में महाराज रोज पूछते, वह भी मेरे बन्धन का किसी प्रकार से कारण बन सकता है यह पहले कभी सोचा न था। मेरी मनोदशा देख महाराज फिर से बोले, "क्या कहते हो सु–, ठीक है न?" तब सिर नीचा करके मैंने कहा था, "जी हाँ महाराज, आशीर्वाद दीजिए, जिससे जीवन में इस सत्य की उपलब्धि कर सकूँ।"

वे तो वेदान्त में सर्वदा प्रतिष्ठित रहते और वेदान्त के ऊँचे ऊँचे तत्त्वों को बड़े सहज ढंग से हम लोगों के भीतर प्रविष्ट कराने की चेष्टा करते। कहते, "हम लोग तो पूर्ण ब्रह्म ही हैं, फिर भी देखो न, किस प्रकार माया के प्रभाव से अपने को इतना हीन समझते हैं!" इस सम्बन्ध में वे एक घटना बतलाते-- ,'देखो, परिव्राजक-अवस्था में घूमते घूमते स्वामीजी ने एक जीर्ण मन्दिर की दीवाल पर कोयले से लिखा हुआ यह दोहा पाया--

चाह चमारी तू मरी सब नीचन तें नीच।
ये तो पूरन ब्रह्म था तू ना होती बीच॥

यह किसने लिखा था अथवा उन्होंने कहाँ इसे पाया था कोई नहीं जानता; किन्तु इसका अर्थ कितना सुन्दर है!--ऐ चाह, तू सबसे नीच हैं, तू चमारिन है, यह (निज की आत्मा) तो पूर्ण ब्रह्म ही था, तूने ही इसके निकट आकर इसे इतना छोटा कर दिया!"

कभी कभी सिर डुलाकर महाराज गाते--

कीट स्वयं कोसा बुनता सो
चाहे उसे काट सकता है।
अजब महामाया की लीला
काट नहीं उसको पाता है॥

कहते, "यही माया का रूप है; श्री ठाकुर इस माया की बात समझाने के लिए अपने चेहरे के सामने एक गमछा आड़ करके कहते, 'यह देखो, मैं तो इतने

करीब हूँ, पर इस साधारण से गमछे की आड़ रहने के कारण तुम लोग मुझे नहीं देख पा रहे हो' ।"

ये सब बातें कहकर महाराज कभी कभी गाने लगते--

खूब महामाया की माया
घना कोहरा डाल रखा है ।
ब्रह्मा विष्णु अचेत पड़े जब
कैसे जीव जान सकता है ।।

और कभी कहते, "श्री ठाकुर छोटी छोटी मटकियों को दिखाकर कहते, 'इन सब मटकियों को एक ही जल से भर दो, और प्रत्येक के ऊपर १-२ इस प्रकार नम्बर लिख दो, देखोगे कुछ समय बाद लगेगा उनमें से प्रत्येक का जल अलग अलग है, किन्तु वास्तविक में तो ऐसा नहीं है, मटकियाँ तोड़ने पर देखोगे कि सभी में वही एक जल है'--ये मटकियाँ ही उपाधि हैं, ये सब यदि दूर न हों, तो हमें अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती ।"

कभी कहते, "साधन-भजन द्वारा उसकी उपलब्धि होती है ।" और कभी कहते, "साधन-भजन क्या है जानते हो ? वह सिर्फ डैनों को थकाना है । श्री ठाकुर सुन्दर उपमा देकर जैसा समझाते थे, 'मस्तूल का पक्षी' जिस प्रकार जहाज के दूर समुद्र के बीच पहुँच जाने पर अपने घोंसले की तलाश में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सभी दिशाओं में उड़ता

है फिर भी जब अपना डेरा नहीं खोज पाता, तब अन्त में थककर मस्तूल के ऊपर ही आश्रय लेता है, उसी प्रकार साधन-भजन करने के बाद अन्त में देखा जाता है कि उनकी (भगवान् की) कृपा को छोड़ और कोई आश्रय नहीं। पर उपयुक्त साधन-भजन के बिना वैसी समझ आने का उपाय भी नहीं है।" हमेशा के इस ज्ञानयोगी तपस्वी के भीतर कभी कभी ज्ञान और भक्ति का अपूर्व समन्वय देख हम लोग मुग्ध हो जाते। साधु शान्तिनाथ नाम के एक कठोर तपस्वी तब पूजनीय हरि महाराज के पास प्राय: आया करते थे; उस समय वे मौन धारण किये हुए थे। काशी की शीत में भी शरीर पर मात्र एक कम्बल और कौपीन को छोड़ वे अन्य कोई वस्त्र व्यवहार में नहीं लेते थे। उनकी सदा की कठोर तपस्या का वर्णन एक दिन हम लोगों के सामने ही पूजनीय अचलानन्दजी (केदार बाबा) पूजनीय हरि महाराज से कर रहे थे। उन्होंने कहा था, "महाराज, एक समय शान्तिनाथ और मैं ऋषीकेश(?) में पास पास की कुटिया में रहते थे। तब देखा था, उसकी छाती पर से गेहुँअन साँप चला गया फिर भी उसका ध्यान नहीं टूटा। इस प्रकार न जाने कितनी कठोर तपस्या की है उसने, आदि आदि।" किन्तु पूजनीय हरि महाराज इस प्रकार की कठोर तपस्या का यथार्थ मर्म जानते थे,

इसलिए एक दिन जब मौनी शान्तिनाथ आकर उन्हें भक्तिभरे भाव से प्रणाम कर रहे थे, तब अत्यन्त स्नेह से उन्होंने उनसे कहा था, "शान्तिनाथ, बहुत तो किया। अब श्री माँ के शरणापन्न होओ। उनकी कृपा बिना कुछ नहीं होने का।" पता नहीं शान्तिनाथ ने उनका मर्म ग्रहण किया या नहीं।

इस समय पूजनीय हरि महाराज प्रायः गाते.—

किसे पुकारूँ श्यामा अब मैं,
शिशु तो माँ को ही पुकारता।
मैं वैसा शिशु नहीं अम्ब हूँ,
जो जिस तिस को 'माँ-माँ' कहता॥
माँ यदि शिशु को मारे भी तो
शिशु 'माँ-माँ' कह कह ही रोता।
दूर ठेल दे, गला पकड़ता,
डाँटे माँ, पर नहीं छोड़ता॥

काशीधाम में सन् १९२२ साल में उन्होंने पूरी चेतना में रहते हुए शरीर छोड़ा था। सुना था उन्होंने 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों का हाथ जोड़कर उच्चारण करते हुए तथा अन्त में 'ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य, जगत् ब्रह्म-प्रतिष्ठित' इत्यादि कहते हुए अपना शरीर छोड़ा था। उनका यह अन्तिम वाक्य काशी के दोनों आश्रमों के विद्वान् साधुओं के बीच बड़ी चर्चा का विषय बना था। पूजनीय जगदानन्द महाराज ने हम लोगों को छान्दोग्य उपनिषद् पढ़ाते

पढ़ाते एक दिन कहा था, "देखो, मैंने भी इस चर्चा में भाग लिया था और कहा था कि जिन्होंने हमेशा 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' कहा, वे अन्तिम समय में इस प्रकार 'ब्रह्म सत्य, जगत् सत्य' कैसे कह सकते हैं? वह बात जिन्होंने सुनी होगी, ऐसा लगता है वे उन वचनों को ठीक ठीक नहीं पकड़ पाये। किन्तु अब जब छान्दोग्य उपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पढ़ रहा हूँ और उसके सही मर्म को समझने की चेष्टा कर रहा हूँ, तब देखता हूँ कि पूजनीय हरि महाराज की वह अन्तिम बात ही यहाँ वर्णित हुई है। सचमुच यह विज्ञानी की अवस्था है। श्रीठाकुर जैसा कहते थे——ज्ञानी नेति नेति करता हुआ अर्थात् वह मन नहीं है, वह बुद्धि नहीं है, वह अहंकार नहीं है, ऐसी विवेचना करता हुआ जब उस परमतत्त्व में उपनीत होता है, तब देखता है कि वह परमतत्त्व केवल निर्विशेष ब्रह्म ही नहीं है, बल्कि वही यह जीव-जगत्, यह पच्चीस तत्त्व सब कुछ हुआ है। यह विज्ञानी की अवस्था है, ज्ञानी की नहीं। यह वैसे ही है, जैसे छत में चढ़ते समय लोग सोचते हैं कि यह जमीन, यह सीढ़ी छत नहीं है ——वे 'यह छत नहीं है,' 'यह छत नहीं है' कहते कहते उसका त्याग करते करते छत पर चढ़ते हैं और छत पर चढ़ जाने पर देखते हैं कि जिन चीजों से छत तैयार हुई है, सीढ़ी इत्यादि भी उन्हीं चीजों से बनी है। तब ऐसा विज्ञानी सब जगह उसी तत्त्व को देख पाता है।"

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :– भैरवी ब्राह्मणी

स्वामी प्रभानन्द

श्रीरामकृष्ण तब पच्चीस वर्ष के युवक थे। उन्होंने अपने कमरे[1] में प्रवेश कर अपने भानजे हृदयराम को आवाज दी और कहा, "घाट की चाँदनी में चला जा। वहाँ एक भैरवी[2] को बैठे पाएगा। उसे बुलाकर यहाँ ले आ।"

उनका यह आदेश पा संकुचित मन से हृदय ने कहा, "वह महिला अपरिचित है, बुलाने से भला क्यों आने लगी?" एक अपरिचित संन्यासिनी के साथ वार्तालाप करने के लिए मामाजी का ऐसा आग्रह देख वह आश्चर्यचकित हो गया; क्योंकि इससे पूर्व उनको ऐसा करते उसने कभी नहीं देखा था।

श्रीरामकृष्ण ने पुनः जोर देते हुए कहा, "मेरा नाम बताते ही वह चली आएगी।"

x x x

यह सन् १८६१ की बात होगी, रानी रासमणि के १९ फरवरी को देहावसान के कुछ दिन बाद की।

---

१. श्रीरामकृष्ण उस समय 'बाबू की काठा' के एक कमरे में रहते थे, जिसे सर्वप्रथम हेस्टी साहब ने बनवाया था और बाद में रानी रासमणि ने जिसका जीर्णोद्धार करवाया था। श्रीरामकृष्ण इस कमरे में अपने भतीजे अक्षय की सन् १८६९ या १८७० में मृत्यु तक थे।

२. तान्त्रिक सम्प्रदाय की एक संन्यासिनी।

इस समय तक श्रीरामकृष्ण अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से बहुत से आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर चुके थे, उसके बाद अपनी जन्मभूमि कामारपुकुर में थोड़े समय के विश्राम के लिए भी जा चुके थे, उनका पाँच वर्षीया सारदामणि[3] से विवाह हो चुका था और दक्षिणेश्वर लौटने के बाद से ही फिर से वे अपनी कठोर आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये थे। अब, जैसा कि स्वामी सारदानन्दजी कहते हैं––"श्रीजगन्माता के सदा सर्वकाल सबके भीतर कैसे दर्शन कर सकेंगे––एकमात्र यही चिन्ता उनके मन में व्याप्त हो गयी। दिन-रात स्मरण-मनन, जप-ध्यान करते हुए उनका वक्षःस्थल पुनः सर्वदा आरक्त रहने लगा, संसार तथा सांसारिक विषयों की चर्चा विषवत् प्रतीत होने लगी तथा नेत्र से निद्रा न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी! कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्यराज गंगाप्रसाद जी ने श्रीरामकृष्णदेव के निमित्त नाना प्रकार की औषधियाँ तथा तैल आदि की व्यवस्था की थी। किन्तु क्रमशः रोग की वृद्धि ही हुई, लाभ कुछ नहीं हुआ।"[4]

एक दिन प्रातःकाल श्रीरामकृष्णदेव अपने स्वभावानुसार गंगातटवर्ती पुष्पवाटिका में पुष्प-चयन

३. श्रीरामकृष्ण की जीवनी के पाठक जानते हैं कि यह विवाह सगाई का ही एक प्रकार था।

४. स्वामी सारदानन्द कृत 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' भाग १, प्र० सं०, पृष्ठ २६८।

करते करते भक्ति-भरे गान गुनगुना रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि एक नाव 'बकुलतला घाट'[५] पर आयी। एक भैरवी उसमें से उतरी और सीढ़ियों से चढ़कर धीरे धीरे दक्षिण की ओर मुख्य घाट की चाँदनी की ओर बढ़ी। जैसे ही श्रीरामकृष्णदेव ने उसे देखा, वे व्याकुल हो उठे, मानो बहुत समय से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हों। वे तेजी से अपने निवास-स्थान की ओर लौट पड़े।

यह बहुत सम्भव है कि श्रीरामकृष्णदेव को भैरवी के आगमन का पूर्वाभास रहा हो। सम्भव है अपने जीवन में भैरवी के सम्बन्ध का महत्त्व श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी सूक्ष्म योगशक्ति से जान लिया रहा हो। स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं, "हमने श्रीरामकृष्णदेव से सुना है कि भैरवी की आयु उस समय लगभग चालीस वर्ष की थी। निकट आत्मीय को देखकर लोग जिस प्रकार विशेष आकर्षण का अनुभव करते हैं, भैरवी को देखकर उनको भी ठीक वैसा ही हुआ था।"[६]

x x x

हृदय अपने पागल मामा के स्वभाव से खूब

---

५. दक्षिणेश्वर में गंगातट पर नौबतखाने के समीप महिलाओं के नहाने का घाट। पास में ही एक विशाल बकुल का पेड़ होने से ऐसा नाम पड़ गया।

६. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग १, पृष्ठ २७८।

अच्छी तरह परिचित था। उनके आदेश का पालन करने के सिवाय और कोई उपाय न था। उसने निर्दिष्ट चाँदनी में जाकर देखा एक लम्बे कद की सुन्दर रमणी वहाँ बैठी हुई है, चालीस के करीब उम्र होने पर भी वह अपेक्षाकृत काफी कम उम्र दिखती है, वह गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए है और उसके केश बिखरे हुए हैं। गले में एक रुद्राक्ष माला है, एक हाथ में ताड़ के पत्ते की बनी टोकनी में कुछ साड़ियाँ एवं पूजा की सामग्री है तथा दूसरे में कपड़े में बँधी हुई कुछ पोथियाँ।[७] उसके आचरण से प्रतीत होता है कि वह किसी सम्भ्रान्त परिवार की है। हृदय ने उससे कहा, "मेरे मामा ईश्वर-भक्त हैं। वे आपके दर्शन करना चाहते हैं।"

इसके बाद के घटना-क्रमों में हृदयराम को विस्मय में डालने के लिए बहुत कुछ था। उसे तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब भैरवी बिना प्रश्न किये उसके साथ श्रीराम-कृष्णदेव के कमरे की ओर चलने के लिए उठ खड़ी हुई।[८]

भैरवी वर्तमान बाँगलादेश के जैसोर जिले के

---

७ वैकुण्ठनाथ सान्याल कृत "श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत" (बँगला), पृष्ठ ३३।

८. रोमाँ रोलाँ के निम्नलिखित कथनों से यह स्पष्ट होत है कि इस प्रकार की दैवयोग से सम्पन्न होनेवाली घटनाओं को हृदयंगम करने में आधुनिक सशयवादियों को कितनी कठिनाई होती है––"अलिफलैला में वर्णित किस्से के समान सहज सुन्दर रूप में वर्णित यह मिलन-कथा योरोपीय पाठकों के मन

एक प्रतिष्ठित परिवार की ब्राह्मणी थीं। वे विष्णु की भक्त और एक पहुँची हुई साधिका थीं तथा तांत्रिक और वैष्णव साहित्य की परम विदुषी थीं। उनका नाम था योगेश्वरी।[९] ऐसा लगता है उनके पूर्वाश्रम के बारे में दक्षिणेश्वर में कोई नहीं जानता था, किसी को यह भी नहीं मालूम था कि कहाँ से उन्होंने इतनी विद्या पायी तथा कहाँ पर और कब आध्यात्मिक साधनाओं में वे इतनी उन्नत हुईं।[१०] भैरवी ने शायद ही कभी अपने बारे में कुछ कहा था।

श्रीरामकृष्णदेव को देखते ही भैरवी आनन्द और विस्मय से अधीर हो गयी और उनके नेत्र सजल

में सन्देह पैदा करती है। मैक्समूलर के समान वे इस दन्तकथा में रामकृष्ण के मानसिक विकास का प्रतीक देखते हैं। किन्तु छह वर्ष के दीर्घकाल तक जो यह शिक्षिका रामकृष्ण के साथ रही, इस समय में उसके व्यक्तित्व में अनेक ऐसे व्यक्तिगत लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं (और जो कि सर्वदा उसके लिए गौरवसूचक नहीं हैं) जिससे कि इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि वह वास्तव में एक महिला थी, और स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ भी उसमें विद्यमान थीं।" (रोमाँ रोलाँ : 'रामकृष्ण परमहंस,' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृ० सं०, पृ ६२)

९. श्री राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) सिर्फ 'बामनी (ब्राह्मणी) कहकर उनका उल्लेख करते थे। जीवनी-लेखकों द्वारा कई बार 'भैरवी ब्राह्मणी' और कई बार सिर्फ 'ब्राह्मणी शब्द द्वारा उन्हें सम्बोधित किया गया है।

१०. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २०५।

हो उठे। उनकी इस विह्वलता के रहस्य का पता उनके शब्दों से लगता है। जब वे अपने भावों का शमन कर सकीं, तब कह उठीं, "बाबा, तुम यहाँ हो! यह जानकर कि तुम गंगातट पर हो मैं तुम्हें ढूंढ़ रही थी, इतने दिनों बाद तुम्हारा पता लगा!" श्रीरामकृष्ण-देव ने पूछा, "माँ, मेरी बात तुम्हें कैसे विदित हुई?" भैरवी बोलीं, "तुम तीन व्यक्तियों से मुझे मिलना था, यह बात श्रीजगदम्बा की कृपा से पहले ही मुझको विदित हो गयी थी। दो[११] व्यक्तियों से पूर्व बंगाल में पहले ही भेंट हो गयी है, आज यहाँ पर तुमसे भी भेंट हो गयी।"

श्रीरामकृष्णदेव ने आगन्तुक का बहुत आदर के साथ स्वागत किया था। ऐसा सोचना गलत न होगा कि श्रीरामकृष्णदेव ने नीचे झुककर भैरवी को प्रणाम किया होगा, क्योंकि, जैसा कि उनका स्वभाव था, वे प्रत्येक नारी में साक्षात् जगन्माता को ही देखते थे। स्पष्टत: भैरवी ने भी प्रथम दर्शन में ही श्रीरामकृष्णदेव के प्रति गहरा अनुराग अनुभव किया था।

---

११. उनको 'चन्द्र' और 'गिरिजा' के नाम से जाना जाता था। दोनों ही बरीसाल जिले के थे, जो अब बाँगला-देश में है। उन्होंने कुछ आध्यात्मिक साधनाएँ की थीं, परन्तु बाद में सिद्धियों के चक्कर में पड़ गये थे। वे लोग बाद में श्रीरामकृष्णदेव से मिले थे और इससे उन लोगों का बहुत उपकार हुआ था।

भैरवी ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया। उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य समझाया, जिसे वे बरीसाल के गिरिजा और चन्द्र को आवश्यक साधन सिखाकर कुछ अंश में पूरा कर चुकी थीं। और अब चूँकि श्रीरामकृष्णदेव मिल गये थे, इसलिए उनका वह उद्देश्य पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाएगा। यह स्पष्ट है कि भैरवी की यौगिक दिव्यदृष्टि ने यह समझने में उनकी सहायता की होगी कि श्रीरामकृष्णदेव किस प्रकार के अद्वितीय आध्यात्मिक साधक थे।[१२]

भैरवीने आगे कहा कि उन्होंने पहले ही यह लक्ष्य किया कि जब श्रीरामकृष्ण पुष्प चुन रहे थे, तो चलते समय उनका बायाँ पैर पहले पड़ रहा था, इससे उन्हें ऐसा लगा मानो श्रीमती राधिका ही वृन्दावन में सोने की टोकनी में पुष्प चुन रही हों।[१३]

तब श्रीरामकृष्णदेव भैरवी के निकट बैठकर, बालक जिस प्रकार आनन्दित हो अपने मन की बातें जननी के समक्ष व्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार अपने अलौकिक दर्शन, ईश्वर-चर्चा के समय बाह्यज्ञान का लोप होना, गात्रदाह, नींद न आना, शारीरिक विकार आदि नित्यप्रति की बातों को बतलाते हुए उनसे बारम्बार यह पूछने लगे, "यह बताओ

---

१२. यह पैराग्राफ गुरुदास बर्मन लिखित 'श्री श्रीराम-कृष्ण-चरित' (बंगला), पृ २४ पर आधारित है।

१३. गुरुदास बर्मन, वही। स्रोत हैं हृदयराम।

मुझे इस प्रकार क्यों होता रहता है ? क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ ? जगदम्बा को हृदय से पुकारने के कारण क्या वास्तव में मुझे कठिन रोग हो गया है ?" भैरवी उनकी बातों को सुनती हुई कभी जननी की तरह उत्तेजित, कभी उल्लसित तथा कभी करुणार्द्र हो उनको सान्त्वना देने के निमित्त बारम्बार कहने लगीं, "बाबा, कौन तुम्हें पागल कहता है ? यह तुम्हारा पागलपन नहीं है, तुम्हारे भीतर महाभाव का उदय हुआ है, इसीलिए तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है। क्या इस अवस्था को किसी के लिए समझना सम्भव है ? इसलिए लोग मनमानी बातें कहते रहते हैं। ऐसी अवस्था हुई थी एक तो श्रीमती राधिका की और दूसरे श्री चैतन्य महाप्रभु को। यह बात भक्तिशास्त्र में विद्यमान है। मेरे पास वे सब पोथियाँ हैं, उनमें से मैं तुम्हें यह बतलाऊँगी कि जिन लोगों ने ईश्वर को हृदय से पुकारा है, उन सभी की ऐसी अवस्था हुई है।" भैरवी ब्राह्मणी तथा अपने मामाजी को इस प्रकार घनिष्ठ आत्मीय की तरह वार्तालाप करते देख हृदय के विस्मय की सीमा न रही। वह अचरज से गड़ा रह गया, जब उसने सुना कि मामाजी को किसी प्रकार का स्नायु-विकार नहीं है, वरन् वह एक, असाधारण आध्यात्मिक अवस्था है, जिसे 'महाभाव' कहते हैं और जिसमें उन्नीस शारीरिक लक्षण--जैसे आँसुओं का बहना, शरीर में कम्पन होना, रोमांच होना,

पसीना आना, गात्रदाह आदि--दिखायी पड़ते हैं। इस प्रकार बड़े आनन्द[१४] में कुछ समय बीतने के बाद श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि बहुत विलम्ब हो गया है और दिन काफी चढ़ गया है। विदुषी भैरवी से यह सुनकर कि उनका जो कष्ट है वह आध्यात्मिक साधना की प्रगति का ही प्रतीक है, उनकी बहुतसी चिन्ताओं का भार हलका हो गया।

श्रीरामकृष्णदेव ने भैरवी ब्राह्मणी को जलपान के लिए देवी का प्रसाद दिया। श्रीरामकृष्ण के प्रति दिव्य वात्सल्य की अनुभूति के कारण भैरवी को बिना उन्हें खिलाये खाना अच्छा न लगा, इसलिए श्रीरामकृष्ण ने उसमें से कुछ अंश पहले ग्रहण किया और तब भैरवी ब्राह्मणी ने विभिन्न मन्दिरों में देव-दर्शन करने के उपरान्त स्वयं प्रसाद ग्रहण किया।

यह सच है कि अधिकतर आध्यात्मिक पुरुषों के जीवन में ऊपर से विशेष कुछ नहीं दिखायी देता, और श्रीरामकृष्णदेव जैसे आध्यात्मिक दिग्गज के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है। अपनी आँखों के सम्मुख जो घट रहा था, उसे देखकर हृदय-

---

१४. वही, पृष्ठ ५५, गुरुदास बर्मन के अनुसार भैरवी ब्राह्मणी ने इस अवसर पर 'श्री चैतन्य-चरितामृत' से उद्धरण प्रस्तुत कर अपने कथन की पुष्टि की थी कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के ही समान श्रीरामकृष्ण भी ईश्वर के अवतार हैं।

राम तो ठगा-सा खड़ा था और सोच रहा था कि ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर लाया जाना ईश्वर की अद्भुत लीला का ही अंग होना चाहिए। अपने मामा के आदेश पर उसने मन्दिर के अमनिया भण्डार से भिक्षास्वरूप आटा, चावल आदि लाकर भैरवी ब्राह्मणी को दिया, जिससे वे रसोई बनाकर अपने गले में लटकी हुई श्रीरघुवीर शिला को भोग लगा सकें।

ब्राह्मणी ने पंचवटी में रसोई बनायी और श्रीरघुवीर को भोग लगाया। अनुष्ठान के अंग के रूप में वे अपने इष्टदेव का चिन्तन करने लगीं और शीघ्र गहरे ध्यान में निमग्न हो गयीं। ध्यान की गहराई में उन्हें एक अभूतपूर्व दर्शन प्राप्त हुआ, दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी और उनका बाह्यज्ञान पूरी तरह लुप्त हो गया। उसी समय श्रीरामकृष्णदेव पंचवटी की ओर एक दुर्निवार खिंचाव का अनुभव करने लगे। वे अर्धबाह्य दशा में आविष्ट के समान वहाँ उपस्थित हुए और श्रीरघुवीर के समक्ष निवेदित नैवेद्य को खाने लगे। जब श्रीरामकृष्ण नैवेद्य का अधिकांश भाग ग्रहण कर चुके, तब ब्राह्मणी की चेतना लौटी। उन्होंने जब आँखें खोलीं, तो यह देखकर उनके आनन्द का ठिकाना न रहा कि जो दर्शन उन्होंने अपने ध्यान की गहराई में किया था, उसका सामने के दृश्य के साथ अद्भुत सादृश्य है। अपने दर्शन की सत्यता को तत्काल प्रमाणित होते देख दिव्य आनन्द

से उनका रोम रोम पुलक उठा। शीघ्र ही श्रीराम्-कृष्ण की भी बाह्य चेतना लौटी और जब उन्होंने अनुभव किया कि भावोन्माद में उन्होंने वह कर डाला जो नहीं करना चाहिए था, तो उन्हें ग्लानि हुई और अपने आचरण के लिए क्षुब्ध हो ब्राह्मणी से कहने लगे, "पता नहीं, आत्मविह्वल हो इस प्रकार के आचरण क्यों कर बैठता हूँ?" ब्राह्मणी तब जननी की तरह उन्हें धीरज देती हुई बोलीं, "बाबा, कोई बात नहीं है; यह कार्य तुमने नहीं किया है, तुम्हारे अन्दर जो विराजमान हैं, उन्होंने ही किया है; ध्यान में निमग्न होकर जो मैंने देखा है, उससे मुझे निश्चय हुआ है कि किसने ऐसा किया है और इसका कारण क्या है; मैं यह भी जान गयी हूँ कि अब मेरे लिए पहले की तरह बाह्यपूजन की आवश्यकता नहीं है। इतने दिनों के बाद मेरा पूजन सार्थक हुआ है।"

यह कहकर किसी प्रकार का संशय किये बिना ब्राह्मणी ने अवशिष्ट खाद्य-सामग्री को देवता का प्रसाद समझकर ग्रहण किया। तदनन्तर प्रेमाश्रु बहाती हुई वे जिस श्रीरघुवीर शिला का भक्तिभावपूर्वक दीर्घकाल से पूजन करती आ रही थीं, उसे गंगा के पावन जल में विसर्जित कर दिया। उन्हें लगा कि अब शिला के पूजन की आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में वे जीवन्त रघुवीर

के दर्शन कर धन्यता का अनुभव कर रही थीं। इन अलौकिक क्रिया-कलापों का एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी शायद हृदयराम ही था, जो भौचक्का होकर सब देख रहा था और कुछ समझ नहीं पा रहा था कि यह सब क्या घट रहा है।

इस प्रकार भैरवी ब्राह्मणी और श्रीरामकृष्णदेव में माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो गया। भैरवी को ऐसा लगता कि श्रीरामकृष्ण नन्दलाला हैं और वे स्वयं मानो माता यशोदा हैं। और श्रीरामकृष्ण भी उन्हें अपनी माता और गुरु समझते थे। इस प्रकार वे एक साथ उनकी भक्त और विश्वसनीय सलाहकार बन गयीं।

अपने हृदय की अन्तर्प्रेरणा से चालित हो श्रीरामकृष्णदेव ने पहले ही आध्यात्मिक अनुभूति की ऊँची अवस्था प्राप्त कर ली थी, परन्तु उन्हें सन्तोष न था, क्योंकि अभी भी सही अर्थ में उन्हें उस अवस्था पर अधिकार नहीं प्राप्त हुआ था। अब उन्हें इन विदुषी महिला के माध्यम से सहायता प्राप्त हो गयी, जिन्हें उन्होंने अपना गुरु मान लिया। तांत्रिक और वैष्णव साधनाओं में निष्णात भैरवी अपने इस अपूर्व शिष्य को परम्परागत आध्यात्मिक साधन-पथ पर तीन वर्ष तक व्यवस्थित ढंग से परिचालित करती रहीं और उनकी सहायता से श्रीरामकृष्ण के समक्ष आध्यात्मिक जीवन के नये नये रहस्य उद्घाटित होते गये।

साथ ही भैरवी ब्राह्मणी ने शास्त्रों में अपनी गहरी पैठ के बल पर, श्रीरामकृष्णदेव के चरित्र का अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन किया और उसकी तुलना शास्त्रों में दी हुई अवस्थाओं से किया। इस ज्ञान के बल पर जो कि उनके स्वय के दर्शनों से भी पुष्ट हुआ था, वे यह घोषित करने के लिए प्रेरित हुईं कि एकमात्र ईश्वर के अवतार में ही इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों का अभिव्यक्त होना सम्भव है। वास्तव में, वे ही प्रथम व्यक्ति थीं, जिन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह प्रमाणित किया था कि श्री चैतन्य महाप्रभु के समान श्रीरामकृष्णदेव भी ईश्वर के अवतार हैं।

श्रीरामकृष्ण के साथ अपने लम्बे बारह वर्ष के सान्निध्य में उन्हें अपनी कमजोरियों का भी पता चला। अपने आध्यात्मिक तनय श्रीरामकृष्ण के स्नेह-पूर्ण तथा अप्रतिम मार्गदर्शन में वे अपनी कमियों को दूर करने में समर्थ हुईं। श्रीरामकृष्णदेव और भैरवी ब्राह्मणी की यह मुलाकात न केवल उन दोनों की आध्यात्मिक यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण घटना है, वरन् वह हमें एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन का दर्शन कराती है, जिसमें सब कुछ पूर्णता की ओर ले जाता है।

●

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (१०)

एक भक्त

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के सन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है।--स०)

सन् १९३६ ईसवी का नवम्बर महीना था। केश-दाढ़ी से सुशोभित मिस्टर फिलिप नामक एक अमेरिकन आये। असल में वे आस्ट्रिया निवासी थे-- दुःसाहसी विमान-चालक थे। महायुद्ध में कई बार अटलाण्टिक के आर-पार उड़ानें भरी थीं। युद्धोपरान्त अमेरिका में बस गये थे। पत्नी की प्रेरणा से वेदान्त-दर्शन से परिचित हुए थे और रामकृष्ण संघ के अमेरिका-स्थित स्वामी परमानन्दजी के आश्रम के सम्पर्क में आये थे। कैलिफोर्निया का बाँध फूट जाने से जल के प्रबल प्रवाह में उनकी पत्नी की जल-समाधि हो गयी थी। तदुपरान्त आध्यात्मिक आलोक की खोज में वे भारत आये हुए थे और बेलुड़ मठ में ठहरे थे।

कुमारी मैक्लाउड (स्वामी विवेकानन्दजी की एक शिष्या) ने उन्हें सारगाछी भिजवा दिया। सन्ध्या समय आकर पहुँचते ही मिस्टर फिलिप ने घुटनों के बल बैठ स्वामी अखण्डानन्दजी के प्रति श्रद्धा निवेदित की। स्वामीजी ने एक ब्रह्मचारी की ओर दिखाकर फिलिप से कहा, "He is your brother, he will

serve you. Yes . . . privilege of service. Everyone is my Atman. When I serve others, I serve my Self," (वह तुम्हारा भाई है, तुम्हारी सेवा करेगा। हाँ, . . . सेवा का अवसर और अधिकार! सब मेरी आत्मा हैं। जब मैं दूसरों की सेवा करता हूँ, तो निज की (आत्मा की) ही सेवा करता हूँ)। इसके पश्चात् फिलिप ने अपनी जीवन-कहानी संक्षेप में वर्णित की। उनके सिर के पीछे हाथ फिराते हुए बाबा ने कुछ देखा, बाद में अपना वस्त्र दिखाकर पूछा, "Do you like this--the garment of renunciation ? You like it ! You are a born tyagi. You are Self" (तुम इसे—इस त्याग के वस्त्र को—पसन्द करते हो ? तुम पसन्द करते हो ! तुम आजन्म त्यागी हो। तुम आत्मा हो)।

तब फिलिप बतलाने लगे कि किस प्रकार ४० वर्ष की उम्र में वे ५० वर्ष की एक महिला के साथ परिणीत हुए एवं उसके संस्पर्श में उन्होंने जीवन का नूतन पथ प्राप्त किया। बाढ़ में डूबनेवाली पत्नी की मृतदेह की मुट्ठी में एक छोटी-सी पुस्तिका थी-- Ligh t on Life' (जीवन-पथ का आलोक)। पुस्तिका 'मेंअभी तक बाढ़ के पानी का दाग बना हुआ था। पुस्तिका दिखलाते दिखलाते वे सचमुच ही रोने लगे और कहने लगे कि ईसाई धर्म के शास्त्र उन्हें शान्ति नहीं दे पाये। उन्होंने लगभग ८-१० हजार पुस्तकें

पढ़ी थीं, पर केवल इसी पुस्तिका ने उन्हें आलोक दिया था। किन्तु अब वे शान्ति चाहते थे, वेदान्त के शान्त शुभ्र आलोक के आश्रय में वे एक नवजीवन चाहते थे।

बाबा बोले, "'Imitation of Christ' is a great book. It helps a spiritual life of renunciation. We had that book in our first monastery. It is a very nice book" ('ईसानुसरण' एक महान् ग्रन्थ है। वह त्यागमय आध्यात्मिक जीवनगठन में सहायक है। हम लोगों के पहले मठ में यह ग्रन्थ था——बड़ी सुन्दर पुस्तक है)।

तदनन्तर कुछ सोचकर फिलिप को ले कमरे के भीतर गये और मोमबत्ती के प्रकाश में उन्हें अच्छी तरह से देखा तथा कुछ प्रश्न पूछे। पश्चात् सन्तुष्ट हो दोनों बाहर आये। बाद में फिलिप ने बतलाया कि स्वप्न में उन्होंने बाबा को देखा था।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद श्री जगद्धात्री पूजा के शुभ दिन हवन करके बाबा ने फिलिप को ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया और नाम दिया 'परमचैतन्य'। केश-दाढ़ी मुण्डन करवाने के बाद शुभ्र धोती-चादर में मुण्डितमस्तक फिलिप ब्रह्मचारी के वेश में सुन्दर दिखायी देते थे। नवजात शिशु सदृश चांचल्य और आनन्द से वे सारे आश्रम में चहलकदमी करते हुए बार बार कहने लगे, "I am Baba's youngest child" (मैं बाबा की सबसे छोटी सन्तान

हूँ)। वे समूचे अपराह्न ठाकुरघर के पास हाथ जोड़े चुप बैठे रहते; किसी किसी दिन किसी वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते और कहते, "I must realise myself while in India. This is a great country. How you love so much, I wonder! So much love I have never found anywhere" (भारत में जितने दिन हूँ, तब तक आत्मज्ञान प्राप्त कर ही लेना होगा। भारत एक महान् देश है। आश्चर्य है, आप लोग कैसे इतना प्रेम करते हैं! इतना प्रेम तो मैंने कभी कहीं पाया नहीं)।

फिलिप के पास कोई बिस्तर वगैरह नहीं था। एक कम्बल पर चादर बिछा हाथ पर सिर रखकर सोते थे, और एक लट्ठे की चादर ओढ़ लेते। गरम कपड़ों के नाम से था कोट और पेंट।

एक दिन सुबह एक सूती कमीज पहने फिलिप अपने कमरे में खाट पर बैठे ध्यान कर रहे थे। पीछे से आकर बाबा उनके ऊपर एक सफेद रंग की पशमीना शाल ओढ़ाकर हँसने लगे; सिर के केश जटा के समान झूलने लगे थे; वह एक अपूर्व छटा थी।

उस दिन सन्ध्या समय फिलिप धीरे धीरे भक्त से कह रहे थे, "Do you know who Baba is? Baba is Shiva. Isn't it?" (बाबा कौन हैं, जानते हो? बाबा हैं शिव। क्यों, ठीक है न?) भक्त विस्मय और आनन्द से चुप हो गया, थोड़ा सिर भर हिला दिया।

सन्ध्या समय एक दिन पुराने संस्मरण बताते बताते बाबा साधन, त्याग और वैराग्य की अनेक बातें कहने लगे--"हरिद्वार-ऋषिकेश में मधुकरी करता था—छत्र के घण्टा बज जाने के बहुत समय बाद पहुँचता। माई पूछती--घण्टी नहीं सुनी ? मैं बोलता --घण्टी सुनूंगा या ध्यान में रहूँगा, माई? माई कहती--अभी तो कुछ नहीं है--जरा सब्र करो, बेटा।

"हम लोग तो पहाड़ में सब भूलकर रहते। पर जब ठाकुर ने संसार में ला रखा है, तब तो संसारी को भी मात देनी होगी। छोटा-बड़ा सब काम करना होगा--देख नहीं रहा ?"

किसी बात पर एक ने कहा--याद नहीं रहता। बाबा कुछ ऊँचे स्वर में बोले, "याद नहीं रहता ?" तत्पश्चात् थोड़ा धीमे स्वर में बोले, "याद तो मुझे भी नहीं रहता था। तिब्बत में था तो बँगला भूल गया था। फिर धीरे धीरे याद आता गया। याद करने से ही याद आता है, याद रखने से ही याद रहता है।"

वैराग्य का प्रसंग फिर से आ गया। बाबा कहने लगे, "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्--यह बृहदारण्यक उपनिषद् की बात है। वैराग्य के लिए दिन-क्षण कुछ नहीं, कोई निश्चित उम्र नहीं। 'निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केशरी'--'विवेकचूड़ामणि' में आचार्य शंकर कह रहे हैं। ये सब वैराग्य की बातें हैं। वैराग्य होने पर

बाहर निकल पड़ो, जिधर खुशी चले जाओ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर—दिशा का भी अता-पता नहीं। फिर कहा है—'व्युत्थाय....भिक्षाचर्यं चरन्ति'। भिक्षा का नियम है—भिक्षा के लिए जब तब मत जाओ। घर के सब सदस्यों का भोजन हो जाने के बाद जाओ—'व्यंगारे भुक्तवर्जने'—आग बुझा दी जाने पर, सब उठ गया हो तब। और जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करना होगा।"

सन्ध्या के बाद बाबा बूकार वाशिंगटन की बात कहने लगे, "बाप अँगरेज था और माँ नीग्रो। 'Up from Slavery' पढ़ी है ? सेवा और शिक्षा की कहानी है—खुद के हाथ से ईंटें बनाकर शाला-भवन तैयार हुआ। भट्ठा पक्का नहीं पाता—बार बार failure (असफलता) होती है। अन्त में सब ठीक हुआ। उसने एक mission (महान् उद्देश्य) लेकर जन्म लिया था। वह क्या किसी से रुकता या दबता ? वह तो करेगा ही। शरत् महाराज् ने मुझे पुस्तक देते हुए कहा था, 'भाई, तुम्हारा जिस प्रकार महुला की झोपड़ी में सेवा-कार्य शुरू हुआ था, उसी प्रकार है।'

"प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट उसके साथ भोजन करने बैठे। सब रूजवेल्ट को मारने के लिए उद्यत हो गये।

"यहाँ का एक मॅजिस्ट्रेट मुझसे कहने लगा, 'तुम लोग मनुष्य से घृणा करते हो।' मैंने मुँह पर ही कह दिया, 'तुम लोग नहीं करते ?' यही दृष्टान्त दिया; तब

चुप हो गया, अन्त में बोला, 'Christianity is not yet ripe in America'--(ईसाई धर्म अब भी अमेरिका में परिपक्व नहीं हुआ है)। जो हो, उसके बाद से वह मित्र बन गया, सच बात कह दी थी न! यह है English nature (अँगरेज का स्वभाव)। बंगाली से सच बात कह दो, तो वह सारा जीवन तुमसे शत्रुता करेगा।"

x x x

"जापान कितना सुन्दर है, स्वामीजी लिखते--मानो तसवीर के समान सजा है। शहर और गाँव में अन्तर नहीं दिखता--सब एक समान हैं। बराबर पक्के रास्ते और उनके दोनों तरफ सुन्दर सुन्दर छोटे छोटे घर, बगीचों से घिरे हुए-- फूलों के गमलों में फूल, फलों के वृक्षों में फल।"

x x x

पहले का प्रसंग घूमकर फिर से आ गया--"देशी राजाओं से अँगरेजों का राज कहीं ज्यादा अच्छा है। इनके administration (शासन-व्यवस्था) की criticism (समालोचना) कर सकते हो और कितने लोग कर भी रहे हैं, पर उनके (राजाओं के) सम्बन्ध में थोड़ी भी कोई बात कहने पर मुश्किल है--spy (गुप्तचर) हैं, रिपोर्ट चली जायगी। फिर विचार, खोज-बीन कुछ भी नहीं, सीधा अन्धे कुएँ में मृत्यु के दिन गिनना है। आजकल बढ़ गया है--पहले इतना

नहीं था। अवश्य ब्रिटिश रेजिमेंट हैं, सब कुछ जानते हैं, सब कुछ देखते हैं।"

कुछ दिनों से बाबा को इच्छा हुई है कि सेवकों में से कोई कोई गाँव गाँव में मैजिक लेन्टर्न लेकर जायँ और उसकी सहायता से ग्रामवासियों को विविध विषयों की जानकारी दें। सबसे पहले एड़वानी गाँव के उस शोकसन्तप्त मुसलमान भक्त के यहाँ जाना होगा। इसके लिए मैजिक लेन्टर्न सुधरवाया गया। अमेरिकन ब्रह्मचारी परमचैतन्य कल-पुर्जों का जानकार है, उसने सब सुधार दिया। आज सन्ध्या हॉल की पश्चिमी दीवाल में परदा टाँगा गया है। ब्रह्मचारी निर्भयचैतन्य स्लाइड समझा देंगे। हॉल के पूर्वी कोने में बेंत की कुर्सी पर बाबा बैठे हुए हैं; दो सेवक उनके घुटनों में वात की औषधि मल दे रहे हैं।

मैजिक लेन्टर्न की जाँच करने के लिए पहले स्वामीजी की तसवीर लगायी गयी, खूब अच्छा फोकस हुआ है। बाबा देखकर बड़े आनन्दित हुए और कहने लगे, "देखा कैसी मूर्ति है!"

उस समय बाबा का तना हुआ सिर, गर्दन एवं तेजस्वी मुखमण्डल देख सेवक को लगा कि स्वामीजी के भाव में भरपूर होने के कारण ही क्या दोनों के मुखमण्डल में इतना सादृश्य है!

थोड़ी देर बाद बाबा बोल रहे हैं, "देख, स्वामीजी को देख पाना सहज है, वे दर्शन देने के लिए

सर्वदा प्रस्तुत हैं। ठाकुर इतने सहज नहीं हैं । इस युग के लोग ठाकुर को स्वामीजी के माध्यम से ही समझेंगे । इसलिए देख रहा है न कि लोग स्वामीजी का भाव ही पहले ले रहे हैं, खूब ले रहे हैं ! यह सब सेवा-कार्य, देशप्रेम--इस सब के भीतर से ही field (जमीन) तैयार हो रही है। इसके पश्चात् है spiritual (आध्यात्मिक) ।" उधर स्वामीजी का 'स्वदेश-मन्त्र' परदे में दिखायी पड़ने लगा....पढ़ा जाने लगा--'हे भारत, तुम मत भूलना....।' पढ़ने के बाद सब चुपचाप हैं--गम्भीर।

कुछ समय बाद बाबा बोले, "स्वामीजी का यह जो देशप्रेम है, वह इतना सहज नहीं है। वह patriotism नहीं--वह है देशात्मबोध। साधारण लोगों में रहता है देहात्मबोध, इसलिए वे देह की देख-सँभाल में डूबे हुए हैं । सारे देश के भूत, भविष्य और वर्तमान का चिन्तन करना देशात्मबोध है । पर यहीं पर अन्त नहीं हो जाता। इससे भी ऊपर विश्वात्मबोध, सबके लिए चिन्ता ।"

अनेक क्षण निस्तब्धता के पश्चात् एक व्यक्ति ने जिज्ञासा की--इतने दिनों से इतना सब कार्य हो रहा है--mass (जनसाधारण) की कुछ तरक्की हुई क्या ? बाबा बोले, "ऐसा क्या काम हुआ है--जो होना उचित था उसकी तुलना में ? और यह जो विशाल mass (जनसमूह) है, जिसे स्वामीजी ने

sleeping leviathan (निद्रित समुद्री दैत्य) कहा है--इसे जगाना क्या सिर्फ मुँह की बात या क्षणिक शोर-शराबे से हो जायगा? धीरे धीरे उसे touch (स्पर्श) करना होगा in spirit of sympathy and service (सहानुभूति और सेवा की भावना से)। सहसा चौंककर होश में आना--जैसा कि बीच बीच में होता है, जिसे politician (राजनैतिक) लोग mass response (जनजागरण) मानते और कहा करते हैं, उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। Mass awakening (जनजागरण) होगा slow and sure (धीरे और निश्चित) रूप से, जैसा कि हुआ है और हो रहा है--जापान, रूस, टर्की और चीन में सनयातसेन एवं कमालपाशा आदि के द्वारा। इसीलिए स्वामीजी का भी प्रधान लक्ष्य mass education (जनसाधारण की शिक्षा) था। प्रारम्भ तो वे कर गये हैं, उसके बाद धीरे धीरे होगा। मृतप्राय को चेतन बनाना यह क्या सहज काम है? हजार वर्षों के slaves (गुलाम) जो ठहरे!

"फिर भी हमीं लोग पहले हैं, जो गाँव गाँव किसानों की झोपड़ियों में पहुँचे हैं। संन्यासी होकर धर्म की बातें न कहकर साधारण ज्ञान की बातें बतलाते हुए घूमे हैं, स्वास्थ्य सम्बन्धी दो-चार बातें--जल छानकर पियो, महामारी के समय सम्भव हो तो उबालकर पियो। कोशिश की है, जिससे

उनकी आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार हो, रोटी-कपड़े का प्रबन्ध हो। समझाया है कि बुरे दिन के लिए कुछ कुछ जमा करके रखना उचित है। आश्रम में गोभी की खेती देख कितने लोग सीख गये। फिर, रेशमकीट पालन का काम तो हमीं लोगों ने इनके हाथ में दिया, आश्रम में कब से यह काम हो रहा था। उन लोगों के रोजगार से जो बचत होती, वह वे मेरे पास बुरे दिनों के लिए जमा कर देते। अभी भी बहुत से लोगों की मजदूरी का पैसा काटकर जमा रख देता हूँ, कहता हूँ——जरा जमा हो जाय न, जिस दिन काम-काज नहीं कर पायगा उस दिन ले लेना।

"शरत् चटर्जी का भाई वेदानन्द यहाँ बहुत दिनों तक था। शरत्बाबू एक बार (बलराम मन्दिर में) मिलने आये थे। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) के साथ भेंट हुई, पूछने लगे, 'यहाँ अखण्डानन्द स्वामी हैं ?' फिर मेरे पास आकर कहने लगे, 'मैं साधु-संन्यासी देखने नहीं आया। सुना है, आप मनुष्यों को प्यार करते हैं, किसानों की झोपड़ी झोपड़ी में घूमते रहते हैं, इसीलिए आपको देखने आया हूँ। आप जिस भाव को लेकर कार्य कर रहे हैं, मैंने उसी भाव को लेकर पुस्तकें लिखी हैं, कहानियाँ लिखी हैं, जिससे कि भाव का प्रसार हो।' बाद में अपनी बहुतसी पुस्तकें भेजीं। कुछ तो अच्छी लगीं——पल्लीसमाज, पण्डित मशाइ; और बाकी मानो मूली खाने पर डकार जैसी।"

x x x

किसी भक्त की चिट्ठी के उत्तर में स्वामी अखण्डानन्द महाराज कह रहे हैं "लिख दो—'जप' जितना कर सके, जब कर सके, करे; उसके लिए समय-असमय, स्थान-अस्थान नहीं है। 'ध्यान' क्या सहज में ही हो जाता है?

"मन तो चंचल होगा ही। गीता की बात जानते तो हो—'चंचलं हि मनः कृष्ण'। उसका उत्तर है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते'। अभ्यास चाहिए, तीव्र वैराग्य चाहिए, नहीं तो कुछ नहीं होगा। मन का स्वभाव ही है इधर उधर भागना; जानते हो न कठोपनिषद् में है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'। हमारी सब इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, बाहर के अवलम्बन के सहारे ही उनको अन्तर्मुखी करना होगा, उसी के लिए तो पूजा, आरती, भोग-राग, धूप-दीप, फूल-फल—इतने सारे अनुष्ठान हैं, जिससे मन को ईश्वर के काम में, ईश्वर के पास engaged (अटकाकर) रख सकें।

"मनुष्य का मन भोग करना चाहता है, उसको divine (दिव्य) बना लेना होगा, इष्ट के साथ भोग होने से अनिष्ट फिर नहीं होगा, शुभ संस्कार बनते रहेंगे।

"ध्यान क्यों नहीं करोगे? ध्यान करो—एक विषय ले लो—जैसे बहुत देर तक आरती कर रहे हो, दीप से हो गयी तो धूप-कपूर देकर करो, चँवर लेकर करो, मानो समाप्त ही न होना चाहती हो।

बहुत समय बाद यदि और उसमें अच्छा न लगे तो सोचो कि विभिन्न प्रकार के पुष्पों से पुष्पांजलि दे रहे हो, बहुत प्रकार की मालाएँ पहना रहे हो। तरह तरह की खाने की चीजें निवेदित कर रहे हो। इस प्रकार से भावना की एक अविच्छिन्न धारा बनाये रखो। यही ध्यान है।

"मन में तो मैला उड़ता ही रहता है, जैसे कमरे में धूल उड़ती है। झाड़ू लगाकर, जल के छींटे देकर, कमरे को पोंछकर उस धूल को साफ करना होगा। कुछ विचारों को बलपूर्वक झाड़ू लगाकर साफ करने के समान मन से निकालना होगा और कुछ को रो-रोकर प्रार्थना करते हुए, जैसे जल के छींटे देकर धूल को बैठा दिया जाता है। रोते रोते कहना होगा ––'प्रभु, क्यों मेरे मन में ऐसे विचार आते हैं–––ऐसे विचारों के रहते तो तुम आओगे नहीं, मेरे मन को पवित्र और शुद्ध कर दो। तुम आओ, तुम दर्शन दो।' इस प्रकार रोते रोते निवेदन करना। ठाकुर ने हमें इसी प्रकार सिखाया था।

"रात में जप करना चाहता है ? नींद आती है ? तो सो जाय। यदि प्रबल इच्छा हो तो उठ जाय और जल्दी जल्दी चहलकदमी करे। बैठे बैठे यदि नींद आती है तो चलते चलते जप करे।

"रात में थोड़ा कम खाना चाहिए। और सर्वदा एक प्रार्थना का भाव, एक उच्च विचार का स्रोत

बना रहे। एक और विचार मन में खेलना चाहिए कि मुझे इसी जीवन में प्रभु के दर्शन कर लेने होंगे। उनको पुकारते पुकारते अपनी पुकार यों समाप्त करनी चाहिए——'ओ माँ, तुम्हें किस तरह पुकारूँ? मुझे ऐसा पुकारना सिखाओ, जिससे एक ही पुकार में सारे जीवन का पुकारना शेष हो जाय'।"

किसी बात के प्रसंग में शिवजी के भाँग खाने की बात उठी। बाबा कहने लगे, "शिव गाँजा पीते हैं, भाँग खाते हैं——लोग बस यही कहते हैं। तो क्या सचमुच यह सब खाते हैं? नहीं, नहीं। और यदि खाते भी हैं तो हुआ क्या? जो समुद्र-मन्थन का जहर पी सकते हैं, उनके सामने यह सब भला है भी क्या? अति तुच्छ। जानते हो, इस गरल-पान को symbolise (प्रतीक) किया है धतूरा-भाँग खाने के रूप में।"

x x x

दीक्षा के सम्बन्ध में बाबा कह रहे हैं, "और क्या दीक्षा दूँ? जो जिसको चाहता है, उसको उसके पास दे देता हूँ। जो माँ को चाहता है, उसे माँ दिखला देता हूँ, जो बाबा को चाहता है, उसे बाबा दे देता हूँ। बाबा ठाकुर——और ठाकुर ही माँ, यही तो दीक्षा है।"

इसके पश्चात् विनोद करते हुए कह रहे हैं, "अरे, तुम लोग भी तो दे सकते हो! तुम भी तो तीन बार तिब्बत गये हो, और केदार-कैलास जाने कहाँ कहाँ गये हो।"

●

रघुपति कीरति बिमल पताका

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण-चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का तीसरा प्रवचन है।)

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।—स०)

भगवान् श्री राम की लीला में लक्ष्मणजी की जो भूमिका है, उस पर हम आज विचार करेंगे। श्री राम के साथ श्री लक्ष्मण की आवश्यकता को सबसे पहले जिस महापुरुष ने समझा, वह हैं महर्षि विश्वामित्र। बाल्यावस्था की लीला के बाद जब श्री राम की लीला का मुख्य कार्य प्रारम्भ होता है, तो उसमें मुख्य सूत्रधार महर्षि विश्वामित्र बनते हैं। वे जब महाराज श्री दशरथ के पास आते हैं, तो उनसे श्री राम की माँग करते हुए महर्षि कहते हैं— 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' (१/२०६/१०)। वे अकेले श्री राम को नहीं चाहते, चारों भाइयों को भी नहीं चाहते, वे तो बस लक्ष्मणजी की माँग श्री राम के साथ करते हैं। और यही वह सूत्र है, जो श्री लक्ष्मण की भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है।

भगवान् श्री राम ने दो महापुरुषों से शिक्षा

प्राप्त की--एक हैं गुरु वसिष्ठ और दूसरे हैं विश्वा-मित्र। दोनों महर्षियों में अन्तर यह है कि श्री विश्वामित्र ने श्री लक्ष्मण की उपयोगिता को ठीक ठीक जाना था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लक्ष्मणजी की तुलना सोन नदी से की है। 'मानस' के प्रारम्भ में वे नदियों का रूपक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं--

रामभगति सुरसरितहि जाई।
मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जसु पावन।
मिलेउ महानदु सोन सुहावन॥ १/३९/१-२

--'सुन्दर कीर्तिरूपी सुहावनी सरयूजी रामभक्तिरूपी गंगाजी में जा मिलीं। छोटे भाई लक्ष्मण सहित श्री रामजी के युद्ध का पवित्र यशरूपी सुहावना महानद सोन उसमें आ मिला।' यह बड़ा विचित्र रूपक है। गोस्वामीजी इस रूपक के द्वारा विश्वामित्र और वसिष्ठ का अन्तर हमारे समक्ष रखना चाहते हैं।

हम वसिष्ठ और विश्वामित्र की तुलना हिमा-लय और विन्ध्य से कर सकते हैं। वसिष्ठ हिमालय के समान हैं, जहाँ से गंगा निकलती है और विश्वामित्र विन्ध्यपर्वत के समान हैं, जहाँ से सोन का प्रादुर्भाव होता है। हिमालय और विन्ध्याचल दो प्रवृत्तियों के संकेत हैं। आपने विन्ध्याचल की प्रसिद्ध कथा सुनी होगी। विन्ध्याचल बढ़ा महत्त्वाकांक्षी है। हिमालय में सत्त्वगुण की प्रधानता हैं, पर विन्ध्याचल में

सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की भी प्रवृत्ति समाहित है। आप विचार करने पर वसिष्ठ और विश्वामित्र इन दो महापुरुषों में यही अन्तर पाएँगे। वसिष्ठ में सत्त्व-गुण की प्रधानता है, जब कि विश्वामित्र के जीवन में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण भी है। प्रश्न उठता है कि समाज के सुधार के लिए सत्त्वगुण की आवश्यकता है, अथवा रजोगुण की? गोस्वामीजी इसके उत्तर में एक बड़ा ही मनोवैज्ञानिक दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ व्यक्ति के जीवन में स्वयं के निर्माण का, शान्ति का प्रश्न है, वहाँ तो सत्वगुण की आवश्यकता है, पर जहाँ व्यक्ति को समाज के लिए संघर्ष करना हो, समाज का निर्माण करना हो, वहाँ अकेला सत्त्वगुण कुछ नहीं कर सकता, उसके साथ रजोगुण का भी होना आवश्यक है। यदि सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की प्रवृत्ति न हो, तो संसार के संघर्षों का सामना नहीं किया जा सकता। सत्त्व-गुणी व्यक्ति स्वभावतः विचारप्रधान होता है और रजोगुणी व्यक्ति क्रियाप्रधान। सत्त्वगुणी व्यक्ति अपने आप में डूबा हुआ निश्चिन्त रहता है, उसे झगड़े-झंझट से कोई सरोकार नहीं होता। पर जब हमें संसार में रहना है, तब संघर्षों का अस्वीकार कैसे कर सकते हैं? यह संघर्ष की वृत्ति रजोगुण की देन है, सत्त्वगुण की नहीं। अतएव भगवान् राम को विश्व के संघर्षमय रंगमंच पर लानेवाले विश्वामित्र ही

ही सकते हैं, वसिष्ठ नहीं। वसिष्ठ भले ही भगवान् राम को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दे सकते हैं, पर श्री राम को लोक-रंगमंच पर लाकर संसार के समक्ष उनका परिचय देने का कार्य तो विश्वामित्र ही कर सकते हैं। वसिष्ठ को रावण द्वारा किये जानेवाले अत्याचार की चिन्ता नहीं, वे तो अपने आनन्द में, अपने त्याग और तपस्या में डूबे हुए हैं। वे सोचते हैं कि अयोध्या में तो रावण का प्रवेश है नहीं, अतः सत्त्वगुणी मुनि को इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसीलिए उनकी तुलना हिमालय से की गयी है, जो बर्फ से ढका हुआ है अर्थात् जो शुद्ध सत्त्व का प्रतीक है। पर विश्वामित्र बड़े महत्त्वाकांक्षी हैं, अतएव उनकी विन्ध्याचल से तुलना बिलकुल ठीक है।

विन्ध्याचल की वह कथा प्रसिद्ध है। उसने सूर्य से कहा कि तुम मेरी परिक्रमा करो। जब सूर्य ने अस्वीकार कर दिया, तो विन्ध्याचल ने चेतावनी दी कि यदि तुम मेरी परिक्रमा नहीं करोगे, तो मैं इतना ऊपर उठूंगा कि तुम्हारा प्रकाश अवरुद्ध हो जायगा। यह बड़ी सांकेतिक गाथा है। यही महत्त्वाकांक्षा आप विश्वामित्र के जीवन में पाएँगे। जैसे विन्ध्य ऊपर उठने की चेष्टा करता है, वैसे ही विश्वामित्र भी क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की चेष्टा करते हैं। उसम होड़ की भावना पैदा होती है कि यदि वसिष्ठ ब्रह्मर्षि

होने के नाते जगत्पूज्य हैं, तो मैं भी अपनी त्याग-तपस्या और साधना के द्वारा ऊपर उठ सकता हूँ। और सचमुच, एक दिन वे अपनी तपस्या के बल पर प्रचलित परम्परा को परिवर्तित करते हुए क्षत्रिय से ब्राह्मण बनकर उसी जन्म में ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर लेते हैं। यह जो रजोगुणी की महत्त्वाकांक्षा है, उसे सही दिशा कब मिलती है ? यदि व्यक्ति केवल अपने लिए संघर्ष करेगा, तब तो उसकी महत्त्वाकांक्षा केवल संघर्ष की सृष्टि करेगी और समाज के निर्माण में उसकी कोई भूमिका नहीं रहेगी, पर यदि वह महत्त्वाकांक्षा आत्म-निर्माण के साथ साथ लोक-कल्याण की दिशा में भी उन्मुख हो सके, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि रजोगुणी प्रवृत्ति का सदुपयोग हो सकता है। ऐसी दशा में सत्त्वगुणी की अपेक्षा जिसमें सत्त्व और रज का मिश्रण हो ऐसा व्यक्ति अधिक काम का हो सकता है। हम पढ़ते हैं कि विन्ध्याचल ऊपर उठता रहा। देवता और मुनि भयभीत हो गये। उन्होंने अगस्त्य से प्रार्थना की कि महाराज, आप किसी प्रकार विन्ध्या-चल को रोकिए। विन्ध्याचल अगर केवल रजोगुणी होता, तो वह किसी की बात नहीं मानता, पर उसमें सत्त्वगुण और रजोगुण दोनों का मिश्रण है। इसीलिए जब अगस्त्य सामने आते हैं, तो वह साष्टांग प्रणाम करता है। यह उसकी सत्त्वगुणी प्रवृत्ति का द्योतक है। वह बढ़ना तो चाहता है, उसमें अहंकार तो है, पर महा-

पुरुषों के समक्ष उसका वह अहंकार प्रकट नहीं होता। सन्तों के सामने अपने अहंकार को वह दबाकर रखता है। हम समाज में चाहे जितने बड़े क्यों न हों, पर यदि हममें सत्त्वगुण है, तो सन्तों के सामने हम झुकेंगे ही। सत्त्व की प्रवृत्ति मनुष्य को झुकाती है। तो, विन्ध्याचल ने महर्षि अगस्त्य को प्रणाम करके पूछा—मेरे लिए क्या आज्ञा है? महर्षि ने कहा--तुम इसी प्रकार तब तक पड़े रहो जब तक मैं लौटकर न आऊँ। और कहा जाता है कि महर्षि अगस्त्य दक्षिण भारत में जाकर बस गये, वहाँ से लौटे ही नहीं और तब से विन्ध्याचल पड़ा ही रहा। यह बड़ी सार्थक बात है। विन्ध्याचल अहंकार की, लोकैषणा की तीव्र प्रवृत्ति से परिचालित होकर ऊपर उठ रहा था और उसका लक्ष्य था सूर्य के प्रकाश को रोक देना। रजोगुणी व्यक्ति यही चेष्टा करता है कि सूर्य मेरे चारों ओर चक्कर काटे, प्रकाश मेरे इर्द-गिर्द चले, जितनी चमक मेरे चेहरे के आस-पास हो उतनी और किसी के पास न आ पाए। और यदि उसके चेहरे के आसपास प्रकाश न होगा, तो वह दूसरों को भी प्रकाश से वंचित करने की चेष्टा करेगा। ऐसी ही विन्ध्याचल की भी इच्छा है, पर उसमें जो सत्त्वमयी प्रवृत्ति है, वही उसे सन्त के समक्ष झुकने के लिए प्रेरित करती है। और सचमुच उसकी सत्त्वगुणी प्रवृत्ति रजोगुणी प्रवृत्ति पर विजयी हो गयी, क्योंकि अगस्त्य नहीं लौटे और विन्ध्याचल पड़ा ही रहा।

लोगों ने उससे कहा——विन्ध्याचल, कब तक पड़े रहोगे ? सन्त तो तुम्हें बहाना बनाकर झुकाकर चला गया, अब वह लौटकर नहीं आएगा। पर विन्ध्याचल ने कहा——मैंने सन्त को वचन दिया है, मैं प्रतीक्षा करूँगा।

'रामचरितमानस' में संकेत आता है कि जब भगवान् राम अयोध्या छोड़कर चले, तो वे दक्षिण में विन्ध्याचल की ओर जाते हैं। वे तो हिमालय की ओर भी जा सकते थे। पर वे बड़े पर्वत की तुलना में छोटे पर्वत का चुनाव करते हैं। वे अपने निवासस्थान के लिए चित्रकूट को चुनते हैं। चित्रकूट विन्ध्याचल का ही एक शिखर है। जब विन्ध्याचल ने भगवान् राम को अपनी ओर आते देखा, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। गोस्वामीजी लिखते हैं——

बिंधि मुदित मन सुखु न समाई।
श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ।। २।१३७।८

उसने सोचा कि मैं तो चाहता था कि सूर्य मेरी परिक्रमा करे, पर अब जब कोटि कोटि सूर्यों का केन्द्र ईश्वर ही मेरी परिक्रमा करेगा, तब मुझसे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन होगा ! सन्त के सामने झुककर मैंने खोया नहीं, बल्कि पाया ही पाया है। जब श्री राम आये और उन्होंने कामदगिरि, चित्रकूट आदि की परिक्रमा की, तो विन्ध्य को ऐसा लगा कि आज मेरे जीवन की सार्थकता हो गयी। तात्पर्य यह है कि जब रजोगुणी प्रवृत्ति सत्त्वगुणी प्रवृत्ति से मिलकर सन्त के समक्ष नत

होती है, तब अन्त में सही दिशा प्राप्त करती है और ईश्वर की प्राप्ति कर धन्यता का अनुभव करती है। तो, भले ही वैयक्तिक निर्माण के लिए सत्त्वगुणी प्रवृत्ति की आवश्यकता है, लेकिन लोक-कल्याण की, संघर्ष की प्रेरणा तो वही देगा, जिसमें सत्त्वगुण और रजोगुण का मिश्रण है। गोस्वामीजी ने सोन नद का जो रूपक दिया, उसका विशेष कारण है। वे एक बड़ी काव्यमयी कल्पना करते हैं। यदि आप सोन के जल को देखें, तो उसका रंग कुछ लाल दिखेगा, और वह गंगा के जल में आकर एकाकार हो जाता है। युद्ध में तो रक्त ही बहता है। तो, लहू का रंग लाल और सोन नद का जल लाल। इसीलिए जब युद्ध की तुलना देनी पड़ी, तो उन्होंने सोन की कल्पना की। उन्होंने उक्त चौपाई के माध्यम से संकेत दिया कि लक्ष्मणजी की भूमिका युद्ध की है और विश्वामित्र पहले प्रेरक व्यक्ति हैं, जो श्री राम को युद्ध की दिशा में ले जाते हैं। वसिष्ठजी के आश्रम में रहकर भगवान् राम ने शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा प्राप्त तो की, पर शस्त्रों के उपयोग की प्रेरणा तो महर्षि विश्वामित्र ही देते हैं, जिनके अन्तःकरण में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण का मिश्रण है और जो क्षत्रिय से ब्राह्मण बनते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने से विश्वामित्र की समस्या का समाधान हो गया?

उत्तर में कहा जा सकता है कि एक सीमा तक तो समाधान हुआ, पर उसके बाद उसमें भी उन्हें कमी का ज्ञान हुआ। उन्होंने वसिष्ठ के साथ युद्ध करके शस्त्र की व्यर्थता का अनुभव किया। जब उन्होंने वसिष्ठ पर शस्त्रों का प्रयोग किया, तो वसिष्ठ के ब्राह्मतेज के सामने उनके शस्त्र प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाल लिया कि क्षात्रतेज व्यर्थ है और ब्राह्मतेज ही सब कुछ है-- 'धिक् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्'। और वे निर्णय करते हैं कि शस्त्र की आवश्यकता नहीं है, अहिंसा की आवश्यकता है--रजोगुण की आवश्यकता नहीं है, सत्त्वगुण की आवश्यकता है; इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह हिंसा के स्थान पर अहिंसा का वरण करे। पर क्या अहिंसा से, सत्त्वगुण की वृत्ति से, ब्राह्मणत्व के अंगीकार से विश्वामित्र की समस्या मिटी? नहीं मिटी। वे तप करके ब्राह्मण तो बन गये, पर जब वे यज्ञ करते हैं, तो राक्षस आकर विघ्न डालते हैं, यज्ञ का ध्वंस कर डालते हैं। विश्वामित्र ने तो शस्त्र का त्याग कर दिया है, वे शस्त्र उठाएँ कैसे? और तब उन्हें लगता है कि अहिंसा में शक्ति नहीं कि हिंसा को रोक सके। वे जीवन में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। और सत्य तो यह है कि रजोगुण के साथ तमोगुण की भी आवश्यकता है। पर यह सावधानी रहे कि

तीनों का उचित मात्रा में मिश्रण हो। तीनों में किसी एक के अभाव से जीवन की गाड़ी चल नहीं सकती। यदि रजोगुण न हो, तो हम कर्म कैसे करेंगे? तमोगुण न हो, तो रात में हम सो कैसे पाएँगे? और यदि हमारे जीवन में सत्त्वगुण न हो, तो कार्य-कारण की परम्परा का विचार करते हुए हम ईश्वर की ओर बढ़ कैसे पाएँगे? रात को नींद हमें तमोगुण की कृपा से आती है। दो प्रकार के लोगों को कम नींद आती है--एक तो वे हैं, जो ईश्वर या दर्शन का बहुत विचार करते हैं और दूसरे वे हैं, जो सोते हुए भी कर्म का चिन्तन करते रहते हैं। तो, तमोगुण की भी जीवन में अपेक्षा है, पर आवश्यक यह है कि उचित समय में उचित वस्तु आए--प्रातःकाल पूजा के समय सत्त्वगुण आए, कर्म करते समय रजोगुण आए और पलंग में तमोगुण। पर यदि कथा में तमोगुण आ जाय, कथा सुनते समय नींद आने लगे, या रास्ता चलते दर्शन का चिन्तन होने लगे, अपने कार्यालय में काम करते समय ईश्वर का विवेचन चलने लगे, तब न तो कथा सुनने का महत्त्व रह जाता है, न कर्म करने का। कथा-श्रवण और कर्म दोनों चौपट हो जाते हैं। यदि ईश्वर का ध्यान करते समय कहीं नींद घेर ले, या कर्म का चिन्तन चलने लगे कि आज क्या क्या करना है, तो ऐसा तमोगुण या रजोगुण जीवन में हानि की ही तो सृष्टि करेगा। इसलिए प्रत्येक गुण को समय से आने की आवश्यकता है।

तो, विश्वामित्र ब्राह्मण बनकर भी अपनी समस्या का समाधान नहीं कर पाते। वे राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा नहीं कर पाते। उन्हें लगता है कि हिंसा और अहिंसा के संघर्ष में हिंसा विजयी होती है। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि अहिंसा को तो अपनी विजय के लिए पूर्णता की आवश्यकता है, जबकि हिंसा को अपनी विजय के लिए पूर्णता की आवश्यकता नहीं है। और अहिंसा की पूर्णता बहुत कठिन है, जबकि हिंसा की पूर्णता बहुत सरल। जैसे घी की शुद्धि के लिए उसमें एक कण भी मिलावट नहीं चाहिए। यदि एक तोला भी मिलावटी घी सौ किलो शुद्ध घी में मिला दिया जाए, तो वह सारा शुद्ध घी मिलावटी ही हो जाएगा। यह शुद्ध घी की बाध्यता है, पर मिलावटी घी के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं। इसी लिए अहिंसा की पूर्णता अत्यन्त कठिनाई से सधती है। और यदि अहिंसा में हिंसा की तनिक भी मिलावट रही, तो दोनों की टकराहट में हिंसा विजयी हो जाती है। विश्वामित्र के सामने शास्त्र-बल भी था और शस्त्र-बल भी, अहिंसा की भी शक्ति थी और हिंसा की भी। उनके मन में प्रश्न उठता है कि राजा रहना ठीक है या ब्राह्मण होना। रावण इस समस्या का उत्तर अपने ढंग से देता है—वह राजा भी था और ब्राह्मण भी, पर वह ब्राह्मतेज और शस्त्रतेज दोनों का दुरुपयोग करता है। वह

अपार विद्वान् है, वह तपस्या करता है, तपस्या के द्वारा शक्ति प्राप्त करता है और उसके साथ शस्त्रों की शक्ति का दुरुपयोग भी करता है। तब विश्वामित्र को लगता है कि रावण के रूप में सत्त्वगुण और रजोगुण दोनों का दुरुपयोग करनेवाली जिस नयी दुष्प्रवृत्ति का जन्म हुआ है, उसका उत्तर देने की शक्ति मेरे पास नहीं है, क्योंकि मैंने शस्त्र का परित्याग कर शास्त्र ग्रहण कर लिया है। और यदि रावण को परास्त करना है, तब तो पुनः शस्त्र ग्रहण करना पड़ेगा, फलस्वरूप सत्त्वगुण पर रजोगुण की विजय हो जायगी। यह सोचकर विश्वामित्र को दुःख होता है कि कहाँ मैंने ब्राह्मणत्व स्वीकार लिया। वे मानो अब पश्चात्ताप करते हैं कि ईश्वर की इच्छा के अनुरूप मैंने कार्य न कर बड़ी भूल की है। ईश्वर भी विचित्र खेल खेलता है ! विश्वामित्र ब्राह्मणत्व को क्षत्रियत्व से श्रेष्ठ मानकर अपना क्षत्रियत्व त्याग देते हैं और ब्राह्मण बन जाते हैं। पर जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे क्षत्रिय से ब्राह्मण बनते हैं, वह जब सगुण रूप धारण करता है, तब किसके यहाँ जन्म लेता है ?––राजा दशरथ के यहाँ, एक क्षत्रिय के यहाँ। और जिसे मारने के लिए निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार होता है, वह कहाँ पैदा होता है ?–– एक ब्राह्मण के यहाँ !––'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती' (६।१९।३)। तो कौन श्रेष्ठ––ब्राह्मण या

क्षत्रिय ? मारनेवाला या मारा जानेवाला ? यही ईश्वर का खेल है। इसी लिए विश्वामित्र को लगा कि--

गाधितनय मन चिंता ब्यापी।

हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ।। १/२०५/५

---ये पापी राक्षस भगवान् के बिना मारे नहीं मरेंगे। और तब वे श्री राम को पाने की योजना बनाते हैं और उनके जीवन में सन्तुलन आ जाता है। जब वे क्षत्रिय थे, तब असन्तुलित थे और जब क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये, तब भी असन्तुलित रहे। पर अब जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि ईश्वर को पाना है, तो जीवन में सन्तुलन आ गया। वे नेत्र मूँदकर सोचने लगे कि ईश्वर है कहाँ ? उन्होंने पाया कि अयोध्या के राजमहल में उसका अवतार हो गया है। अब विचार कीजिए विश्वामित्र को कैसा लगा होगा, जब उन्होंने देखा कि मैं तो क्षत्रिय से ब्राह्मण बना और ईश्वर ने जन्म लेने के लिए क्षत्रिय का घर चुना ! उन्हें लगा कि यदि इसकी कल्पना मुझे होती, तो व्यर्थ ब्राह्मण बनने का प्रयास क्यों करता ? विश्वामित्र ने जाति के आधार पर बड़प्पन पाने का प्रयास किया, पर ईश्वर ने क्षत्रिय के यहाँ जन्म लेकर मानो बता दिया कि मुझे पाने के लिए जाति बदलना आवश्यक नहीं है। और तब ब्राह्मण बने हुए विश्वामित्र क्षत्रिय के घर जाते हैं। पहले वे राज्य छोड़कर जंगल में गये और अब उन्हें जंगल से पुनः राजा के

पास जाना पड़ रहा है। और केवल यही नहीं, उन्हें ऐसे क्षत्रिय के पास जाना पड़ रहा है, जिसके आचार्य वसिष्ठजी हैं ! प्रभु बड़े कौतुकी हैं। वे जानते हैं कि विश्वामित्र और वसिष्ठ इन दोनों महापुरुषों में टकराहट है। महापुरुषों के बीच संगठन के इस अभाव में लंका के दुर्गुण समाज पर अत्याचार करते हैं, क्योंकि ये दुर्गुण संगठित हैं। इन दुर्गुणों के नाश के लिए महापुरुषों को जोड़ना अभीष्ट है। इसी लिए प्रभु विश्वामित्र को महाराज दशरथ के यहाँ लाकर वसिष्ठजी से मिला देते हैं।

भगवान् राम ने दो गुरु बनाये---एक थे वसिष्ठ और दूसरे थे विश्वामित्र। श्री राम दोनों की भूमिका जानते हैं। वे दोनों को मिलाकर सिद्ध करना चाहते हैं कि समाज के लिए दोनों की आवश्यकता है। बाल्यावस्था से अब तक उन्होंने जो शिक्षा पायी है, वह वसिष्ठ से प्राप्त की है। पर उस शिक्षा के उपयोग की आवश्यकता का अनुभव विश्वामित्र को होता है। इसी के माध्यम से प्रभु विश्वामित्र को अपनी ओर खींचते हैं। वे मानो यह संकेत देते हैं कि मुनि, अब आपको महत्त्वाकांक्षा का गलत मार्ग छोड़कर मेरी ओर आना होगा, मुझे माँगना होगा, वसिष्ठ से समझौता करना होगा। होता भी यही है। विश्वामित्र आते हैं और महाराज दशरथ से दोनों भाइयों की माँग करते हैं। उनका काम केवल श्री राम को माँगने

से क्या नहीं बन सकता था? वे राजा से केवल श्री राम को माँग सकते थे? फिर लक्ष्मणजी को साथ में क्यों माँगते हैं? इसका उत्तर संकेत के रूप में पूर्व में दिया जा चुका है। लक्ष्मणजी में संघर्ष की जो तीव्र प्रवृत्ति है, उसकी चर्चा विरोधाभास के रूप में की जा चुकी है। भगवान् राम में संघर्ष की प्रवृत्ति का अभाव है, वे बड़े सौम्य हैं, शान्त हैं, जबकि लक्ष्मणजी में रजोगुण की, तीव्र संघर्ष की प्रवृत्ति विद्यमान है, जो आवेश के रूप में दिखायी देती है। इस तथ्य को विश्वामित्र से अधिक कोई नहीं जानता था कि अकेले राम कुछ भी नहीं कर पाएँगे, जब तक कि लक्ष्मणजी उनके साथ न हों। लक्ष्मणजी विश्वामित्र के ही परिष्कृत रूप हैं। अन्तर इतना है कि विश्वामित्र का जो रजोगुण है, वह व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन है, जबकि लक्ष्मणजी के जीवन में दिखायी देनेवाला तीव्र रजोगुण और अहंकार वस्तुतः अहंकार न होकर भगवान् राम के कीर्तिध्वज के लिए डण्डे की तरह है। डण्डा यदि अकेला खड़ा रहे, तो अहंकार का प्रतीक है, पर जब वह झण्डे को उठाने के लिए खड़ा हो—अपने को उठाने के लिए नहीं, तब तो वह समर्पण का ही प्रतीक है। ऐसी दशा में वह झण्डे का गौरव ही बढ़ाता है, उसे चमकाता है। इसलिए चतुर विश्वामित्र यह अनुभव करते हैं कि श्री राम से अकेले

काम नहीं बनेगा, उनके साथ प्रेरक के रूप में श्री लक्ष्मण को ले जाना पड़ेगा। हमें विश्वामित्र के चुनाव की प्रशंसा करनी पड़ेगी। उन्होंने श्री राम के साथ श्री भरत को नहीं माँगा। वैसे तो दोनों एक-जैसे दिखायी देते हैं, उन दोनों को माँग लेने से बढ़िया चुनाव रहता। और ऐसे प्रस्ताव बाद में आये भी कि श्री राम और श्री भरत की जोड़ी अच्छी रहेगी। हम अयोध्याकाण्ड में पढ़ते हैं कि कौसल्या अम्बा जनकजी के पास सुनयना के माध्यम से प्रस्ताव भेजती हैं कि जब राम ने वन में रहने का निश्चय कर लिया है, तो रहे, पर साथ में भरत को ले ले और लक्ष्मण को लौटा दे। ऐसा क्यों ? कौसल्या अम्बा का कथन था कि——

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।
रहें नीक मोहि लागत नाहीं ॥ २।२८३।४

——भरत के मन में गूढ़ प्रेम है। उसके घर रहने में मुझे भलाई नहीं जान पड़ती। संकोच के मारे वह भले ही कुछ न कहे, पर यदि राम ने लक्ष्मण को साथ लिया और उसे छोड़ दिया, तो उसे बड़ा दुःख होगा। जनकजी ने यह प्रस्ताव श्री राम के समक्ष रखा भी; यही नहीं, श्री भरत ने स्वयं यह प्रस्ताव श्री राम के सामने रखते हुए कहा——प्रभु, यदि आप चाहें तो मैं साथ चला चलूँ और लक्ष्मणजी लौट जायँ, या फिर यदि आप कहें तो हम तीनों भाई वन चले जायँ और आप सीताजी के साथ

अयोध्या लौट जायँ। पर भगवान् राम ने भरत को साथ रखना स्वीकार नहीं किया। किन्तु इसके कारण श्री भरत की महानता में कोई अन्तर नहीं पड़ जाता। भरत को साथ न लेने का कारण भिन्न है। भगवान् राम जानते हैं कि भरत महान् हो सकते हैं, पर वे श्री राम के साथ रह उनके कार्य में सहायक नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि श्री राम और श्री भरत बिलकुल एक-जैसे हैं। किसी नीतिकार ने लिखा है--'समानशीलव्यसने सुसख्यम्'--'समान शील और व्यसन में मित्रता होती है', पर मेरी दृष्टि में यह वाक्य कोई बहुत संगत नहीं। मैं इसमें थोड़ा संशोधन करना चाहूँगा। समान व्यसन में तो मित्रता हो सकती है, एक-जैसी आदत के लोगों में मित्रता हो सकती है, नशे के अभ्यासी व्यक्ति एक साथ जुड़ सकते हैं, पर समान शीलवाले व्यक्तियों में मैत्री की सार्थकता नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी का 'दोहावली रामायण' में कहा गया यह वाक्य अधिक उचित प्रतीत होता है कि--

> कै लघु कै बड़ मीत भल
> सम सनेह दुख सोइ।
> तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस
> मिलें महाबिष होइ॥ ३२३॥

--कभी बराबरी की मित्रता मत करो। जैसे घी और शहद समान मात्रा में मिला दें तो विष बन

जाता है, उसी प्रकार समानता की मित्रता दुखदायी होती है।

गोस्वामीजी सचमुच मनोविज्ञान के महापण्डित थे। उनका यह स्पष्ट मत था कि श्री राम और श्री भरत का साथ अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेगा श्री लक्ष्मण के साथ रहने से जो कार्य होगा, वह भरतजी के साथ रहने से नहीं होगा। इसका कारण यह है कि भरत की प्रवृत्ति में ठीक उसी प्रकार का संकोच विद्यमान है, जो श्री राम की प्रवृत्ति में है। इसीलिए गोस्वामीजी श्री राम के साथी के रूप में श्री लक्ष्मण का चुनाव करते हैं, श्री भरत का नहीं। लोगों को इस चुनाव पर आश्चर्य भी होता है, पर गोस्वामीजी का दृष्टिकोण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। परशुराम ने भी श्री राम और लक्ष्मण की जोड़ी देख आश्चर्य प्रकट किया था और श्री राम से कह दिया था——

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही (१।२७६।८)

——तुमने ऐसा टेढ़ा भाई अपने साथ कैसे रख लिया, जिसका न रंग तुमसे मिलता है, न रूप, न स्वभाव? ऐसा चुनाव कैसे कर लिया? परशुराम का तात्पर्य यह था कि मैंने सुना है तुम्हारा एक भाई ऐसा है, जो रूप, रंग, स्वभाव में तुम्हारे जैसा है। यदि तुम्हें बाहर निकलना था, तो ऐसे समान गुणवाले भाई को साथ लेकर निकलते? संसार में लोगों को अलग अलग स्वभाव के व्यक्तियों को साथ रहते देख आश्चर्य ही

हुआ करता है। पर आपने कभी इसके कारण पर विचार किया ? यदि एक संकोची व्यक्ति किसी मुँहफट या स्पष्ट भाषी को पसन्द करने लगे, तो लोग अचरज कर सकते हैं, पर जो मनोविज्ञान का ज्ञान रखते हैं, उन्हें इस पर आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि वे ऐसी मित्रता का कारण समझते हैं। संकोची व्यक्ति भी कभी कभी मन में अनुभव करता है कि साफ साफ कह दें, पर अपने स्वभाव से लाचार होने के कारण वह कह नहीं पाता। ऐसी दशा में मुँहफट साथी बड़ा काम आता है। तात्पर्य यह है कि जो बात एक संकोची व्यक्ति चाहते हुए भी नहीं कह पाता, उसे उसका स्पष्टभाषी मित्र कहकर उसके काम को पूरा कर देता है। भगवान् राम की भी यही समस्या है। धनुर्भंग के प्रसंग में परशुरामजी श्री लक्ष्मण पर बिगड़ रहे हैं और बार बार फरसा चमका रहे हैं। लक्ष्मणजी को हँसी आ जाती है और उन्हें हँसते देख परशुराम क्रोध से भर जाते हैं——

हँसत देखि नख सिख रिस व्यापी।
राम तोर भ्राता बड़ पापी ।। १।२७६।६

वे कह उठते हैं——राम, तेरा भाई बड़ा पापी है। तो क्या अकेले लक्ष्मणजी हँस रहे हैं ? श्री राम भी तो हँसते हैं——'मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ' (१।२८०।४), पर वे सिर झुकाये मन ही मन हँसते हैं। वे संकोच के कारण लक्ष्मण के समान उन्मुक्त होकर नहीं हँस पाते। यदि

परशुराम श्री राम को भी हँसते देख पाते, तो जाने क्या होता ! प्रभु को लगता है कि जो साहस मुझमें नहीं, वह लक्ष्मण में है। और जिस समय परशुराम श्री राम पर भी बिगड़ खड़े होते हैं, तो प्रभु मन में सोचते हैं--

गुनह लखन कर हम पर रोषू।
कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू॥
टेढ़ जानि सब बंदइ काहू।
बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू॥ १।२८०।५-६

--गुनाह तो लक्ष्मण का और क्रोध मुझ पर करते हैं ! कहीं कहीं सीधेपन में भी बडा दोष होता है। टेढा जानकर सब लोग किसी की भी वन्दना करते हैं, टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता !

और इस प्रकार श्री राम यह अनुभव करते हैं कि लोक-कल्याण के लिए कभी कभी टेढ़ापन आवश्यक हो जाता है। इसी लिए वे लक्ष्मण को साथ रखना पसन्द करते हैं, भरत को नहीं, क्योंकि श्री लक्ष्मण ही श्री राम के पूरक बन सकते हैं, श्री भरत नहीं। और श्री लक्ष्मण की भूमिका सबसे कठिन, सबसे जटिल है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि किसी मुँहफट, संघर्ष-प्रिय और उग्र स्वभाववाले व्यक्ति को यश प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव जो व्यक्ति लोक-कल्याण के लिए अपने यश की इच्छा से ऊपर उठकर बड़े से बड़ा कलंक स्वीकार कर ले, उसके त्याग की तो सराहना ही करनी होगी। तभी तो चारों भाइयों के नामकरण के समय गुरु

वसिष्ठ ने 'लक्ष्मण' नाम की व्याख्या करते हुए कहा---

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥ १/१९७

---जो शुभ लक्षणों के धाम हैं, श्री राम के प्रिय हैं, सारे संसार के आधार हैं, उनका 'लक्ष्मण' ऐसा उदार नाम है। गुरु वसिष्ठ लक्ष्मण को उदार कहते हैं, पर वे तो कोई उदार लगते नहीं, बड़े संकीर्ण मालूम होते हैं। उदार वह होता है, जो वितरण करता है, देता है। श्री राम की उदारता तो 'रामचरितमानस' में स्थल स्थल पर दिखायी देती है, पर लक्ष्मण की उदारता कहाँ पर दिखती है? तब फिर वसिष्ठजी ने लक्ष्मणजी का नाम रखते समय 'उदार' शब्द का प्रयोग कैसे कर दिया? सामान्यत: हम संसार में धन देनेवाले को ही उदार समझते हैं, पर धन देनेवाला व्यक्ति तो यश-कीर्ति भी पाता है, किन्तु जिस व्यक्ति ने लोक-कल्याण के लिए अपने यश को भी अर्पित कर दिया हो, उससे बढ़कर उदार कौन हो सकता है? जब हम उदारता की ओर इस दृष्टिकोण से देखते हैं, तभी लक्ष्मणजी के चरित्र के साथ पूरा न्याय कर पाते हैं। वे नाम-यश की बिना परवाह किये जब जैसा अनुभव करते हैं, जो आवश्यक समझते हैं, वह नि:संकोच भाव से व्यक्त कर देते हैं, फिर चाहे सामने कितनी भी बड़ी हस्ती क्यों न हो। उनका यह स्वभाव श्री विश्वामित्र को ज्ञात है, इसी लिए वे

मानते हैं कि श्री लक्ष्मण की भूमिका के बिना भगवान् राम का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

अन्य पात्रों की तुलना में लक्ष्मणजी की भूमिका विशिष्ट है। प्रत्येक पात्र को उसके स्वभाव के अनुसार कार्य मिला हुआ है और हर पात्र अपनी मिली भूमिका का निर्वाह करता है। भगवान् श्री राम भी प्रत्येक के साथ अलग अलग प्रकार का व्यवहार करते हैं। जैसे, आप अपने से छोटे से मित्र का व्यवहार करेंगे, किसी महात्मा के पास जाने पर शान्त भाव से उसके सामने झुकेंगे, किसी मित्र के समक्ष अपना मन ही खोलकर रख देंगे। इसी प्रकार, 'रामचरितमानस' में जितने भी पात्र हैं, उन सबके साथ श्री राम का नाटक किसी न किसी सीमा के द्वारा घिरा हुआ है, यहाँ तक कि श्री भरत के साथ भी उनका नाटक सीमाओं से घिरा हुआ है, क्योंकि भरत के प्रति श्री राम के मन में महानता का भाव है। श्री हनुमानजी के प्रति भी उनके मन में सम्बन्धों की सीमा है। पर लक्ष्मणजी के साथ एक विचित्र बात है। केवल वे ही ऐसे पात्र हैं, जिनसे भगवान् राम के सम्बन्धों की कोई सीमा नहीं है। श्री राम की प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक मनःस्थिति, प्रत्येक क्रिया-कलाप में जो समान रूप से उपयोगी हैं, वे हैं लक्ष्मण। आप यदि 'रामचरित-मानस' को आदि से अन्त तक पढ़ लें, तो देखेंगे कि

लक्ष्मणजी भगवान् राम के साथ सब प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। यदि शान्त-रस की भूमिका हो, तो आप उन्हें वटवृक्ष की छाया में श्री राम के समक्ष बैठे हुए हाथ जोड़कर वैराग्य की चर्चा करते हुए पाएँगे--

कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥ ३।१४

और पुष्पवाटिका में जहाँ श्रृंगार-रस की कविता प्रभु के अन्तःकरण में फूटती है, क्या आप सोच सकते हैं कि प्रभु भरत को लेकर जा सकते थे? यदि जाते भी, तो क्या वहाँ प्रकट होने वाले श्रृंगार-रस का वर्णन वे भरत से कर सकते थे? वह तो लक्ष्मण ही हैं, जिनके समक्ष वे अपने अन्तःकरण में उपजे श्रृंगार-रस का भी वर्णन कर सकते हैं। एक ओर उनसे ज्ञान-विराग की चर्चा, तो दूसरी ओर हास्य और श्रृंगार की भी। पुष्पवाटिका में जब सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनायी देती है, तो प्रभु के हृदय का कवित्व श्री लक्ष्मण के समक्ष वाणी का रूप ले बरस उठता है। वे कह उठते हैं--

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥ १।२२९।१-२

--लक्ष्मण, लगता है कामदेव वाद्य बजाता हुआ आ

रहा है। तो, लक्ष्मणजी के साथ श्री राम का जो सम्बन्ध है, वह किसी सीमा से घिरा हुआ नहीं। रामायण में भगवान् राम अन्य किसी भी पात्र से उतने उन्मुक्त भाव से बात नहीं करते, व्यवहार नहीं करते, जितना कि श्री लक्ष्मण से। शान्त-रस में लक्ष्मण उनके साथी हैं, शृंगार-रस में भी, हँसी-विनोद का अवसर आये उसमें भी, फिर राज्य का त्याग करना हो तो विराग की भूमिका में भी उतने ही भागी हैं। जब शूर्पणखा विवाह का प्रस्ताव ले भगवान् राम के पास आती है, तो प्रभु कह देते हैं--'अहइ कुआर मोर लघु भ्राता' (३।१६।११)--अगर विवाह ही करना चाहती हो, तो मेरे छोटे भाई के पास चली जाओ, वह कुँआरा है। क्या प्रभु भरत को सामने रखकर ऐसा वाक्य कह सकते थे? प्रभु ने छोटे भाई के साथ विनोद भी कैसा किया? जो राज्य छोड़कर, पत्नी छोड़कर प्रभु की सेवा में आये हुए हैं, उन्हें 'कुमार' कहते हुए शूर्पणखा को उनकी ओर प्रेरित कर दिया! और लक्ष्मणजी प्रभु के मन की बात समझ लेते हैं कि वे विनोद का विस्तार करना चाहते हैं। बस, वे भी प्रभु की इस लीला में तुरन्त सहायक बन जाते हैं। शूर्पणखा श्री राम द्वारा प्रेरित होकर श्री लक्ष्मण के सामने खड़ी हो जाती है। लोग लक्ष्मणजी को कटु स्वभाव का कहते हैं। पर क्या इस प्रसंग में कोई कटुता

उनमें दिखायी देती है ? वे चाहते तो उसी क्षण शूर्पणखा के नाक-कान काट लेते, या कह देते कि मेरा विवाह हो गया है, तुम उन्हीं के पास जाओ। पर उन्हें तो प्रभु की विनोद-लीला को बढ़ाना है। वे क्या करते हैं ?--'गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि...' (३।१६।१२)--वे प्रभु की ओर देखते हैं, प्रभु से उनकी आँखें मिलती हैं और तब वे शूर्पणखा से कहते हैं--'सुंदरि सुनु'--सुन्दरी, सुनो। शूर्पणखा बड़ी प्रसन्न होती है कि छोटा भाई बड़े से अधिक रसज्ञ जान पड़ता है, उसने मुझे 'सुन्दरी' तो कहा, बड़े भाई ने तो मेरे सौन्दर्य की कोई सराहना ही नहीं की। लक्ष्मणजी उसे सुन्दरी कहते तो हैं, किन्तु उसकी ओर देखते नहीं, वे तो 'प्रभु बिलोकि'--प्रभु को देखते हैं और एक वाक्य कहकर बिनोद को बढ़ा देते हैं--

सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥ ३।१६।१३

--सुन्दरी, यदि उन्होंने तुम्हें मेरे पास यह कहकर भेजा है कि मैं कुँआरा हूँ, तो उन्होंने ठीक ही कहा होगा, लेकिन अगर तुम्हारा विवाह मुझसे हो भी जाय, तो तुम्हारा क्या लाभ होगा ? मैं तो उनका दास हूँ, इस नाते तुम दास की पत्नी ही तो कहाओगी। तुम्हें कितना कष्ट होगा तुम सोच देखो। इतना कहकर लक्ष्मणजी यदि रुक जाते, तब भी ठीक था, पर वे तो

प्रभु के विनोद का विस्तार करना चाहते हैं। जब लक्ष्मणजी की बात सुनकर शूर्पणखा कहती है कि तुम भी जब मुझे स्वीकार नहीं करते, तो क्या निराश हो जाऊँ, तब लक्ष्मणजी कहते हैं--नहीं, नहीं, तुम हमारे बड़े भाई के ही पास चली जाओ। शूर्पणखा कहती है--पर वे तो विवाहित हैं, वे कैसे मुझे ग्रहण करेंगे? वे तो पहले ही बता चुके हैं। लक्ष्मणजी उत्तर देते हैं--उससे क्या हुआ? 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा'--प्रभु तो अयोध्या के राजा हैं। जहाँ राजा कई विवाह किया करते हैं, वहाँ यदि ये दो कर लेंगे, तो कौन रोकनेवाला है? 'जो कछु करहिं उनहि सब छाजा'--वे जो कुछ करें, उन्हें सब शोभा देता है और मैं यदि कुछ करूँ, तो मेरी आलोचना होगी! इसलिए तुम उन्हीं के पास जाओ। और सचमुच शूर्पणखा श्री राम के पास चली जाती है। प्रभु उससे पुनः कहते हैं--नहीं, वह दास नहीं, मेरा छोटा भाई है, तुम उससे विवाह करके सुखी होगी, और ऐसा कह उसे फिर से लक्ष्मणजी के पास भेज देते हैं। लक्ष्मणजी उसे पुनः समझाते हैं--तुम कैसी भूल कर रही हो, राजा को छोड़कर दास से विवाह करना चाहती हो, तुम उन्हीं के पास जाओ। और यह क्रम कब तक चलता है? जब तक भगवान् राम विनोद चाहते हैं। और जब वे देखते हैं कि हास्य की स्थिति अब यहाँ तक आ गयी कि शूर्पणखा क्रुद्ध हो उठती

है तथा रौद्र और बीभत्स रस की सृष्टि हो जाती है, तो वे लक्ष्मण को संकेत करते हैं। शूर्पणखा को लगा कि सुन्दरी सीता ही मेरे मार्ग में बाधक है और यह सोच वह उन्हें खाने के लिए जब बढ़ती है, तो प्रभु लक्ष्मण को संकेत से बता देते हैं कि अब क्या करना होगा। बस, त्योंही लक्ष्मणजी भी अपनी भूमिका बदल देते हैं। जो अभी अभी व्यंग-विनोद में इतना रस ले रहे थे, शूर्पणखा को सुन्दरी कहकर विनोद कर रहे थे, वे क्षण भर में अब इतना कठोर, इतना उग्र बन जाते हैं कि--

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥ ३/१७

इसका तात्पर्य यह है कि हर क्षण यदि कोई प्रभु का साथ दे सकता है, तो वह लक्ष्मण ही हो सकते हैं, कोई और नहीं। इसलिए न तो हनुमानजी प्रभु के पूरक हैं, न भरतजी, पूरक तो केवल लक्ष्मणजी हैं। इसी लिए विश्वामित्र श्री राम के साथ श्री लक्ष्मण की माँग करते हैं। और इसकी सार्थकता हम स्थान स्थान पर अनुभव करते हैं। धनुष-यज्ञ का प्रसंग ही लें। जब धनुष के न टूटने से जनक निराश हो गये और कहने लगे--मैंने समझ लिया कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी है, तब उन्हें उत्तर कौन प्रदान करता हैं ? श्री राम के लिए जनक की बात का खण्डन करना उनके अपने स्वभाव के प्रतिकूल है,

क्योंकि उनके स्वभाव का मूल तत्त्व ही है शील और संकोच। महाराज जनक चाहे जितनी अनुचित बात क्यों न कहें, श्री राम उनका कभी खण्डन न करेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि जनक महान् ज्ञानी हैं, समाज में पूज्य हैं, वे समझते हैं कि उन्हें जनक के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ऐसी स्थिति में जनक के अनुचित शब्दों का उत्तर श्री लक्ष्मण के अतिरिक्त और कौन दे सकता था ? उस धनुष-यज्ञ में लक्ष्मण ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो उस समय के संसार के दो बड़े महापुरुषों को फटकारते हैं—एक को धनुष टूटने से पहले और दूसरे को धनुष टूटने के बाद। एक हैं उस समय के सबसे बड़े ज्ञानी जनक और दूसरे हैं सबसे बड़े वीर परशुराम। बाह्य दृष्टि से लगता है कि लक्ष्मण कितने अशिष्ट हैं, जो समाज के इतने सम्माननीय व्यक्तियों को भरी सभा में फटकार देते हैं। और प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी फटकार, क्रोध का ऐसा प्रदर्शन क्या आवश्यक है ? क्या केवल शील और संकोच से समाज में काम नहीं चल सकता ? इस समस्या का समाधान लक्ष्मण देते हैं। जनक चाहे जितने बड़े ज्ञानी रहे हों, पर उनमें कुछ कमी है और इस कमी का परिचय लक्ष्मणजी कराते हैं। जब वे जनक की बात सुनते हैं, तो क्रोध से उनके ओठ फड़कने लगते हैं। श्री राम की आँखों में क्रोध नहीं, पर लक्ष्मणजी क्रोध से भर उठते हैं। और लक्ष्मणजी

का यह क्रोध ही श्री राम की शान्ति को शक्ति प्रदान करता है, सत्त्वगुण को प्रेरणा देता है। लक्ष्मणजी के महाराज जनक और परशुराम को फटकारने में व्यंग्य यह था कि एक इसलिए क्रोधित हुआ कि धनुष क्यों नहीं टूट रहा और दूसरा इसलिए कि धनुष क्यों टूट गया; एक कहता है कि धनुष को टूटना चाहिए और दूसरा कहता है कि नहीं टूटना चाहिए ! लक्ष्मणजी का फटकारना सुनकर गुरु विश्वामित्र सबसे अधिक प्रसन्न हुए--

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं ।
मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं ।। १/२५३/३

उन्हें अपने चुनाव पर गर्व हुआ। सोचने लगे--बड़ा अच्छा हुआ, जो मैं लक्ष्मण को भी साथ लेता आया, नहीं तो सारा काम बिगड़ जाता। यदि लक्ष्मण साथ न होते, तो श्री राम जनक के शब्दों का खण्डन करने के लिए न उठते, क्योंकि यदि खण्डन करते, तो उनके शील और संकोच की जो इतनी गाथा गायी जाती है, वह झूठी हो जाती। और यदि शील और संकोच की रक्षा करने चुपचाप बैठे रहते, तो धनुष न टूटता, लोक-कल्याण न होता। लोक-कल्याण की चिन्ता करने से व्यक्तित्व की महिमा घटती और व्यक्तित्व की महिमा को सुरक्षित रखने से लोक-कल्याण पर प्रहार होता। जनक के अनुचित कहने पर भी जब श्री लक्ष्मण भगवान् राम को चुप्पी मारे बैठे देखते

हैं, तो उन्हें आश्चर्य होता है। अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब वे प्रभु के ओठों पर हँसी खेलते देखते हैं। प्रभु हँसे क्यों ?

आज प्रातःकाल ही दोनों भाइयों का संवाद हुआ था। भगवान् राम ने पूछा था---देखो तो लक्ष्मण, सूर्य निकल आया है क्या ? लक्ष्मणजी ने हँसते हुए उत्तर दिया था कि एक सूर्य तो निकल आया है, पर दूसरा सूर्य कुछ देर के बाद निकलेगा। लक्ष्मणजी का मतलब था कि भौतिक अन्धकार को मिटानेवाला सूर्य तो निकल आया है, पर जनकपुर में जो आध्यात्मिक अन्धकार छाया हुआ है, उसे मिटानेवाला सूर्य कुछ देर बाद निकलेगा, क्योंकि भौतिक सूर्य के द्वारा आध्यात्मिक अन्धकार नहीं मिट सकता। यह आध्यात्मिक अन्धकार क्या था ? गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि महाराज जनक की सीता-विवाह सम्बन्धी मान्यता ही वह आध्यात्मिक अन्धकार है। जनक यह मानते हैं कि जब धनुष टूटेगा, तब श्री सीता का विवाह होगा। आप धनुष की कथा जानते होंगे कि कैसे शिवजी ने अपना धनुष महाराज जनक को दे दिया था। जनक धनुष की नित्य पूजा किया करते। एक दिन सीताजी को आदेश दिया गया कि जहाँ धनुष रखा हुआ है, उसके आसपास को साफ करके गोबर से लीप दें। सीताजी ने वहाँ जाकर साफ करते करते देखा कि धनुष के नीचे धूल जमी हुई है और बहुत

दिनों से वह स्थान साफ नहीं हुआ है। वे बायें हाथ से धनुष को उठाकर दाहिने हाथ से उस स्थान को साफ कर लीप देती हैं। जनक जब धनुष का पूजन करने आये, तो धनुष के नीचे की जमीन भी लिपी देख बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे--जिस धनुष को खींचने के लिए हजारों योद्धा लगते हैं, उसे किसने उठाया होगा? उन्होंने सीताजी को बुलाकर पूछा और जब मालूम पड़ा कि सीताजी ने धनुष को उठाकर नीचे की जमीन लीपी है, तो वे आश्चर्य से पूछ बैठे--बेटी, आखिर तुमने इस धनुष को उठाया किस तरह? सीताजी ने अत्यन्त भोले भाव से मुसकराते हुए धनुष को बायें हाथ से उठाकर कहा--ऐसे! जनक आश्चर्य से गड़ गये कि जिस धनुष को संहार के देवता भगवान् शंकर दोनों हाथों से उठाते हैं, उसे इस कन्या ने बायें हाथ से उठा लिया! और जनक के विवेक ने कहा कि यह कन्या साधारण नहीं, वह तो साक्षात् महाशक्ति है--सृजन, पालन और संहार तीनों की देवी है--

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥१/० वन्दना

और महाराज जनक निर्णय लेते हैं कि जब मुझे यह महाशक्ति प्राप्त हुई है, तब उसके वास्तविक स्वामी--ब्रह्म--का पता लगाकर उसे यह शक्ति सौंप देनी होगी। जैसे आपको रास्ता चलते कोई वस्तु मिल जाय, तो आप यदि निकृष्ट वृत्ति के हैं तो उस वस्तु

को हथिया लेने का प्रयास करेंगे और अपने भाग्य की प्रशंसा करते हुए कहेंगे कि वाह! क्या बढ़िया दिन रहा। पर यदि आप उत्कृष्ट वृत्ति के हैं, तो प्रयास करेंगे कि उस वस्तु के स्वामी का पता लगाकर उसे उसकी खोयी चीज वापस कर दी जाए। आप समाचार-पत्रों में विज्ञापन देंगे कि अमुक वस्तु मिली है, जिसकी हो वह पहचान बताकर प्रमाण देकर ले जाय। महाराज जनक भी इस दूसरी पद्धति का सहारा लेते हैं। वे सोचते हैं कि महाशक्ति के स्वामी--ब्रह्म--का पता लगाना होगा। पर ब्रह्म को पहचानने की कसौटी क्या होगी? जनक ने सोचा--यदि महाशक्ति शंकरजी के धनुष को बायें हाथ से उठा लेती है, तो उसका स्वामी धनुष को तोड़ने में अवश्य समर्थ होगा। इसलिए उन्होंने सीताजी के लिए वर प्राप्त करने हेतु धनुष को तोड़ने की कसौटी रखी। पर जब जनक देखते हैं कि धनुष को तोड़ना तो दूर, उसे कोई राजा हिला भी नहीं सका, तब उन्हें बड़ा दुःख होता है और वे अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं--

अब जनि कोउ माखै भटमानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥ १/२५१/३

--अब कोई वीरता का अभिमानी नाराज न हो। मैंने जान लिया, पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी। और वे कह बैठते हैं--'कुअँरि कुआरि रहउ'--कन्या कुँआरी हो रहेगी।

जनक की यह वाणी सुनते ही लक्ष्मण बौखला उठते हैं और जनक को फटकारते हुए कहते हैं--

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें ॥
कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान ॥१।२५२

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई ॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥१।२५२।१-२

इन शब्दों से लक्ष्मणजी ने मानो संकेत किया--प्रभु, जब मैं आपके साथ जनकपुर आया, तब जनकजी के प्रति मेरे मन में बड़ी आदर-बुद्धि थी, क्योंकि मैंने उनके ज्ञान की बड़ी ख्याति सुनी थी। और जब आपको एक क्षण देखते ही उन्होंने विश्वामित्रजी से पूछ दिया कि साक्षात् ईश्वर ही तो नहीं आ गये, तो उनके प्रति मेरी श्रद्धा और अधिक बढ़ गयी कि ये तो ऐसे ज्ञानी हैं जो एक ही दृष्टि में ईश्वर को पहचान लेते हैं। पर आज इनका ज्ञानाभाव देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि जो राम को देखते ही उनके ब्रह्मत्व को पहचान लेता है, वह सीता को अपनी गोद में पाकर भी उनके महाशक्तित्व को अब तक कैसे नहीं पहचान पा रहा है? लक्ष्मणजी का तर्क यह है कि यदि जनक ने

सीताजी को पहचान लिया होता, तो वे यह कैसे कहते कि धनुष के न टूटने पर मेरी पुत्री का विवाह नहीं होगा और वह कुँआरी ही रह जायगी ? तब तो वे यही मानते कि शक्ति भला कहाँ कुमारी है, शक्ति और ब्रह्म का मिलन तो नित्य है, और वे ब्रह्म को खोजने की चेष्टा करते, कहते कि भई, अपनी वस्तु को प्रमाणित करके ले जाओ, यह नहीं कहते कि हम अपनी कन्या का दान कर रहे हैं। क्या सुबह का होना या न होना मुर्गे की बाँग पर निर्भर होता है ? यह ठीक है कि जब सूर्य उगता है, उससे पहले हमें मुर्गे की ध्वनि सुनायी देती है, पर इससे हम यह मान लें कि यदि किसी दिन मुर्गा नहीं बोलेगा, तो सूर्य ही नहीं निकलेगा, तो वह तो बड़ी अविवेकपूर्ण बात होगी। वैसे ही श्री जनक का यह मानना कि धनुष के टूटने पर ही श्री सीताजी का विवाह होगा, एक भ्रमपूर्ण धारणा है। इसका अभिप्राय यह है कि जनक एक आध्यात्मिक अन्धकार से ग्रस्त हो गये हैं। इस अन्धकार को दूर करने के लिए लक्ष्मणजी एक दूसरे सूर्य का उदय आवश्यक मानते हैं। तभी तो जब श्री राम पूछते हैं––लक्ष्मण, सूर्य निकला ? तो लक्ष्मण उत्तर में कहते हैं––एक सूर्य तो निकल आया है, पर दूसरा सूर्य कुछ देर के बाद निकलेगा।

पर जिस समय लक्ष्मण जनक के अनुचित शब्दों को सुनते हैं, तो यह देख उन्हें आश्चर्य होता है कि

प्रभु धनुष को तोड़ने नहीं उठ रहे हैं, वे वैसे ही चुपचाप बैठे हुए हैं। प्रभु मुसकराकर लक्ष्मण की ओर देखते हैं। मानो उनका तात्पर्य है कि लक्ष्मण, सूर्य तो तब निकलेगा, जब पूर्व दिशा में लाली दिखायी देगी। जब तक तुम्हारे नेत्रों की लालिमा प्रकट नहीं होगी, तब तक सूर्य कैसे निकलेगा? यदि भगवान् राम सूर्य हैं, तो लक्ष्मण प्राची की लाली हैं। यदि श्री राम मेघ हैं, तो लक्ष्मण, गर्जना। गर्जना के बाद ही तो वर्षा होगी, लाली के बाद ही तो सूर्य निकलेगा। और श्री लक्ष्मण अपने क्रोध की लाली से वातावरण को इतना आवेशपूर्ण बना देते हैं कि--

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥१।२५३।१

--सारा संसार काँप उठता है। लक्ष्मणजी मानो श्री राम को संकेत करते हैं कि सब तो डिग गये, केवल दो ही अडिग रहे--एक आप और दूसरा धनुष। जब चैतन्य उठेगा, तब तो जड़ मिटेगा। अतएव, प्रभु, अब आप कार्य शुरू कीजिए। और इस प्रकार श्री लक्ष्मण स्वयं कलंक लेकर श्री राम को यश प्रदान करते हैं। वे अप्रिय बनकर सबको उत्तेजित करते हैं, जिससे श्री राम का कार्य पूर्ण हो। लक्ष्मणजी की भूमिका के बिना भगवान् राम का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता, लक्ष्मण के बिना राम अधूरे हैं।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सब धन धूरि समान

विजयनगर के कृष्णदेवराय ने जब राजगुरु व्यासराय के मुख से सन्त पुरन्दरदास के सादगी भरे जीवन और निर्लोभिता की प्रशंसा सुनी, तो उन्होंने सन्त की परीक्षा लेने की ठानी और एक दिन सेवकों से सन्त को बुलवाकर उनकी भिक्षा में चावल डाले। सन्त प्रसन्न हो बोले, "महाराज ! प्रतिदिन मुझे इसी तरह कृतार्थ किया करें !"

घर लौटकर पुरन्दरदास ने प्रतिदिन की भाँति भिक्षा की झोली पत्नी सरस्वती देवी के हाथ में दे दी। किन्तु जब वह चावल बीनने बैठी, तो देखा कि उसमें छोटे छोटे हीरे हैं। उन्होंने तत्क्षण पति से पूछा, "कहाँ से लाये हैं आज भिक्षा ?" पति ने जब 'राजमहल से' जवाब दिया, तो सन्त-पत्नी ने घर के पास घूरे में वे हीरे फेंक दिये।

अगले दिन जब पुरन्दरदास भिक्षा लेने राज-महल में गये, तो सम्राट् को उनके मुख पर हीरों की आभा दिखी और उन्होंने फिर से झोली में चावल के साथ हीरे डाल दिये। ऐसा क्रम एक सप्ताह तक चलता रहा।

सप्ताह के अन्त में राजा ने व्यासराय से कहा, "महाराज ! आप कहते थे कि पुरन्दर-जैसा वैरागी दूसरा नहीं है, मगर मुझे तो वे लोभी जान पड़े।

यदि विश्वास न हो, तो उनके घर चलिए और सच्चाई को अपनी आँख से देख लीजिए।"

वे दोनों जब सन्त की कुटिया में पहुँचे, तो देखा कि लिपे-पुते स्वच्छ आँगन में तुलसी के पौधे के समीप सरस्वती देवी चावल बीन रही है। कृष्णदेव-राय ने कहा, "बहन! चावल बीन रही हो?"

सरस्वती देवी ने कहा, 'हाँ भाई! क्या करूँ, कोई गृहस्थ भिक्षा में ये कंकड़ डाल देता है, इसलिए बीनना पड़ता है। ये कहते हैं, भिक्षा देनेवाले का मन न दुखे, इसलिए प्रसन्न मन से भिक्षा ले लेता हूँ। वैसे इन कंकड़ों को चुनने में बड़ा समय लगता है।"

राजा ने कहा, "बहन! तुम बड़ी भोली हो, ये कंकड़ नहीं, ये तो मूल्यवान् हीरे दिखायी दे रहे हैं।" इस पर सरस्वती देवी ने कहा, "आपके लिए ये हीरे होंगे, हमारे लिए तो कंकड़ ही हैं। हमने जब तक धन के आधार पर जीवन व्यतीत किया, तब तक हमारी दृष्टि में ये हीरे थे। पर जब से भगवान् विठोबा का आधार लिया है और धन का आधार छोड़ दिया है, ये हीरे हमारे लिए कंकड़ ही हैं।" और बीने हुए हीरों को वह घूरे पर डाल आयी, जहाँ पिछले छह दिन के फेंके गये हीरे चमचमा रहे थे।

यह देख व्यासराय के मुख पर मन्द मुस्कान

फैल गयी और सलज्ज कृष्णदेवराय माता सरस्वती देवी के चरणों पर झुक गये।

(२) बुरा जो देखन मैं चला

सन्त बिल्वमंगल एक बार श्रीकृष्ण के भजन में मग्न हो रास्ते से जा रहे थे कि सामने से एक सद्यःस्नाता सुन्दरी वहाँ से गुजरी। उसका अनुपम सौन्दर्य देख बिल्वमंगल का चित्त विचलित हो गया और वे भगवद्भजन भूलकर उसकी रूप-माधुरी का पान करने के लिए चंचल हो उठे। उस रमणी ने जब सन्त की यह दशा देखी, तो जल्दी जल्दी कदम बढ़ाकर वह घर में घुस गयी। किन्तु बिल्वमंगल उसके बाहर निकलने की आशा में बाहर बैठे रहे। तब पत्नी ने पति को सारी बात बतायी। पति समझदार था। उसने सोचा, यदि पत्नी को देखने मात्र से इस सन्त की प्यास बुझती है, तो दिखाने में कोई आपत्ति नहीं है, और उसने पत्नी को बाहर आने का आदेश दिया। इसका बिल्वमंगल के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें अपने पतन के लिए पश्चात्ताप हुआ। सामने ही बिल्ववृक्ष था, उसके दो काँटे उन्होंने निकाले। इधर जब वह रमणी सामने आयी, तो उन्होंने उसके मादक रूप को देखा और तुरन्त उन काँटों को अपनी पापी आँखों में चुभो दिया। इससे आँखों से रक्त की धारा बहने लगी, किन्तु सन्त प्रसन्न थे कि पापी आँखों को उचित दण्ड मिल गया है। अब उनकी

दृष्टि बदल गयी, जीवन में दिव्यता आ गयी और उन्होंने वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया ।

(३) ना जाने किस भेष में

साईंबाबा (शिरडी के) पहुँचे हुए महात्मा हो गये हैं । उपासनी महाराज उनके शिष्य थे । साईंबाबा ने ही उन्हें आत्म-साक्षात्कार प्रदान किया था । उनसे उन्हें यह उपदेश मिला था कि गुरु और ईश्वर दोनों अभिन्न हैं । गुरु में श्रद्धा और विश्वास रहे, तो ईश्वर की कृपा और भक्ति प्राप्त हो जाती है ।

एक बार नित्य की नाईं जब उपासनी महाराज मस्जिद की ओर, जिसे साईंबाबा 'द्वारकामाई' कहते थे, भोजन का थाल लेकर जा रहे थे, तो रास्ते में उन्हें एक काला कुत्ता दिखायी दिया । वह ललचायी नजरों से थाल की ओर देखने लगा । उपासनी महाराज ने सोचा, पहले गुरुदेव को भोजन दे आऊँ, बाद में इस कुत्ते को दूँगा और वे आगे बढ़ गये । बाबा ने उन्हें देखा, तो बोले, "अरे, इतनी दूर धूप में क्यों आये, मैं तो स्वयं रास्ते में आया था । तुमने मुझे उसी वक्त भोजन क्यों नहीं दे दिया, तुमने बाद में देने की क्यों सोची ?" और तब उपासनी महाराज को कुत्ते का स्मरण हो आया । बाबा बोले, "कुत्ते का वेश मैंने ही तो धारण किया था । तुम भूल गये कि प्राणीमात्र में आत्मानुभूति ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है ।"

(४) साईं इतना दीजिए

हजरत उमर (द्वितीय खलीफा) बहुत सादगी-पसन्द थे। फिलस्तीन के अपने राजकोष से अपने परिवार के पोषण के लिए वे केवल बीस रुपया माह-वार लेते थे। इससे उनकी ह्ालत इतनी खराब रहती कि कोहनी के पास फटे कपड़ों पर चमड़े के पैवन्द लगाने पड़ते, ताकि उस जगह कपड़े दोबारा न फटें। जूते वे स्वयं गाँठ लेते और सिरहाने में तकिये की जगह ईंट रखते। जब उनका यह हाल था, तब बच्चों की क्या बात? वे भी फटे-हाल रहते। उनके हमजोली बालक अपने नये नये कपड़े दिखाकर उन्हें चिढ़ाया करते।

एक बार उनके एक पुत्र अब्दुल रहमान से न रहा गया और रो-रोकर उसने नये कपड़े सिलवाने के लिए अपने पिता से बहुत मिन्नतें कीं। इससे खलीफा का हृदय पसीजा और उन्होंने अपने कोषाध्यक्ष से अपने वेतन से पेशगी के रूप में दो रुपये देने के लिए कहा। किन्तु कोषाध्यक्ष उनसे भी बढ़कर था। उसने देने से इनकार कर दिया, कहा, "हुजूर! मुआफी चाहता हूँ! खुदा-ना-ख्वास्ता आप इन्तकाल फरमा गये, तो यह पेशगी किस खाते में डालूँगा? मौत का कोई भरोसा नहीं, उसे आते देर नहीं लगती। मैं नहीं चाहता कि आप इस दुनियाँ से कर्जदार होकर जाएँ।"

बात हजरत को जँच गयी और उन्होंने कोषाध्यक्ष की दूरन्देशी की तारीफ की और बच्चे को गले लगाकर अगले माह कपड़े सिलवा देने का आश्वासन दिया ।

(५) मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला

श्रीरामकृष्ण परमहंस के गले में नासूर हो गया था । उन्हें देखने श्री शशधर तर्कचूड़ामणि उनके पास आये । उन्होंने कहा, "आप अपने मन को रोगग्रस्त अंग पर केन्द्रित करके 'रोग चला जा, रोग चला जा' ऐसा क्यों नहीं कहते? ऐसा कहने से निश्चय ही आपका रोग चला जाएगा ।"

इस पर श्रीरामकृष्णदेव बोले, "तुम विद्वान् होकर मुझे ऐसी सलाह देते हो ? जब मैंने अपना मन आनन्दमयी जगन्माता को समर्पित कर दिया है, तो उसे वहाँ से हटाकर इस हाड़-मांसरूपी तुच्छ पिंजड़े पर कैसे लगाऊँ ?"

तब शशधर बोले, "आप माँ की ही प्रार्थना क्यों नहीं करते कि वह आपको रोगमुक्त कर दे ?"

परमहंस बोले, "जब मैं माँ के बारे में सोचता हूँ, तो मेरा यह भौतिक शरीर लुप्त हो जाता है और मैं देहहीन रह जाता हूँ । इसलिए इस देह के बारे में मुँह से किसी भी प्रकार की प्रार्थना नहीं कर सकता !"

•

तदा योगमवाप्स्यसि

(गीताध्याय २, श्लोक ५२-५३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा (जब) ते (तेरी) बुद्धिः (बुद्धि या अन्तःकरण) मोहकलिलं (मोह के कलुष को) व्यतितरिष्यति (पार करेगी) तदा (तब) श्रोतव्यस्य (सुनने योग्य) श्रुतस्य च (और सुने हुए विषय में) निर्वेदं (वैराग्य को) गन्तासि (प्राप्त होगा) ।

"जब तेरी बुद्धि मोह के कलुष से पार हो जायगी, तब तूने जो कुछ सुना है और जो कुछ सुनना चाहता है, उस सबसे तुझे विरक्ति हो जायगी ।"

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

यदा (जब) श्रुतिविप्रतिपन्ना (अनेक प्रकार की फलश्रुतियों से विक्षिप्त) ते (तेरी) [बुद्धि] निश्चला (निश्चल) [होकर] समाधौ (समाधि-वृत्ति में) अचला (स्थिर) स्थास्यति (रहेगी) तदा (तब) योगम् (योग को) अवाप्स्यसि (प्राप्त करोगे) ।

"जब अनेक प्रकार के वेदवाक्यों से चकरायी हुई तेरी बुद्धि अपनी चञ्चलता को खोकर समाधि-वृत्ति में स्थिर हो जायगी, तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा ।"

पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण नें अनामय पद का वर्णन किया और कहा कि साम्यबुद्धिरूप योग से युक्त मनीषी उसका अधिकारी होता है । ऐसा स्थान

जो समस्त दोष और भय से मुक्त हो, स्वाभाविक ही अत्यन्त स्पृहणीय मालूम होता है। अर्जुन ने जब अनामय पद का वर्णन सुना, तो उसके मन में भी उसे पाने की स्पृहा जाग गयी। वह सोचने लगा कि जब ऐसे घोर युद्ध से वह अनामय पद असंख्यगुना श्रेष्ठ है, तब जैसे भी हो, उस अवस्था को शीघ्र प्राप्त करके भय और दोषादि से मुक्त हो जाना चाहिए। वह विचार करने लगा कि अनामय पद का उपायभूत यह बुद्धियोग यदि मुझे मिल जाए, तो फिर मैं अविलम्ब वह भयरहित निर्दोष पद प्राप्त कर लूंगा। अन्तर्यामी भगवान् उसका मनोभाव भाँप लेते हैं और उससे कहते हैं---अर्जुन, यह बुद्धियोग ऐसा नहीं कि चट से मिल जाय। वह कोई भौतिक पद नहीं है, जहाँ पहुँचने के लिए हम काल की गणना कर सकें। वह तो मन की अवस्था है। जब तक तेरी बुद्धि इस मोह के कीचड़ में फँसी हुई है, तब तक तेरे मन में कर्मफल के प्रति आसक्ति बनी रहेगी और तब तक तू कार्यों का मूल्यांकन उनके फलों के द्वारा करता रहेगा, तेरे मन में कर्मफल के सम्बन्ध में ऊहापोह बना रहेगा; जो ग्रन्थ कर्मफल की बात बताएँगे कि अमुक कर्म अमुक फल को जन्म देता है, उनके प्रति तेरा आकर्षण बना रहेगा; और तब तक बुद्धियोग तुझसे दूर रहेगा।

सचमुच, मोह जब तक बुद्धि को घेरे रहता है, तब तक असत्य ही सत्य दिखायी

देता है और सत्य, असत्य। साधारण जीव शरीर और आत्मा में कोई भेद नहीं देख पाता। वह शरीर के सम्बन्धियों को अपना मानता है और जो शरीर से सम्बन्धित नहीं हैं, वे उसके लिए पराये हैं। वह अपने और पराये के भेद के अनुसार अपने कर्तव्य का निश्चय किया करता है। जिन कार्यों से अपने शरीर और कुटुम्बियों को सुख मिले, उन्हें अपना कर्तव्य मानता है और जो कार्य अपने एवं स्वजनों के लिए हानिकर हों, उन्हें त्याज्य। वह जो कुछ करता है, फल की आशा से प्रेरित होकर ही करता है। यही मोह है। साधारण जीव की बुद्धि इसी मोहरूपी कीचड़ में फँसी रहती है। लाभ मिलने के जो भी उपाय हों, वे उसके लिए 'श्रोतव्य' और 'श्रुत' हैं। 'श्रोतव्य' वह है, जिसे सुनना है और 'श्रुत' वह है, जिसे सुना है। लोग संसार की आशापूर्ण बातें ही सुनते हैं और सुनना चाहते हैं। फिर, लोगों को धर्म की ओर खींचने के लिए शास्त्रों में विभिन्न कर्मों के विभिन्न फलों का आकर्षण है, भिन्न भिन्न स्वर्गलोकों के आश्वासन हैं, कर्मफलों की तरह तरह से स्तुतियाँ हैं। जब तक मन इस मोह-कीच में पड़ा रहता है, तब तक इन कर्मफलों का आकर्षण ही जीवन में प्रमुख होता है, वही हमारे कर्मों की प्रेरणा हुआ करता है।

आजकल का श्रोतव्य और श्रुत है सत्ताधिकार-- आई. ए. एस. होना, विधायक या संसद सदस्य चुना

जाना, मंत्री होना, विभिन्न सत्ता-पदों पर नियुक्त अथवा निर्वाचित होना। व्यक्ति यही सब बातें सुनता है और सुनना चाहता है। उसके लिए यही सब प्रीतिकर होता है। इस सबमें स्व और पर का भेद ही प्रेरक-शक्ति होता है, और इसके मूल में है मोह। इस मोह को भगवत्पाद भाष्य-कार 'अविवेकरूप कलुष' कहते हैं। आत्मा और अनात्मा में भेद न कर पाना ही अविवेक कहलाता है। जैसे, नारियल जब कच्चा होता है, उसमें रस भरा होता है, तब उसके गूदे और छिलके में भेद करना कठिन होता है, क्योंकि तब गूदा छिलकारूप ही हुआ करता है। पर जिस समय नारियल का रस सूखता है, तब गूदा अपने आप छिलके से अलग हो जाता है और गड़-गड़ आवाज करता है। उसी प्रकार अन्तःकरण में मोह-रस के रहते व्यक्ति आत्मा को शरीर और मन से अलग नहीं कर पाता, फलस्वरूप शरीर और मन से सम्बन्धित विषयों को ही श्रोतव्य और श्रुत मानता है, एकादश इन्द्रियाँ और उनके विषय ही उसकी चर्चा के विषय होते हैं। ऐसी स्थिति में वह बुद्धियोग को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इक्यावनवें श्लोक में अनामय पद को प्राप्त करने का क्रम बताया गया। अब विवेच्य दो श्लोकों में उस बुद्धियोग की प्राप्ति का क्रम प्रदर्शित हुआ है, जो अनामय पद को प्राप्त करने का प्रमुख सोपान है।

इस बुद्धियोग की परिपक्वता ही अनामय पद का मूलाधार है। तो, ऐसा योग कब प्राप्त होगा ?-- जब बुद्धि समाधि-वृत्ति में अचल हो जायगी। बुद्धि समाधि-वृत्ति में अचल कब होगी ?--जब सांसारिक विषय-भोगों की बातें सुन-सुनकर चंचलता को प्राप्त हुई बुद्धि निश्चंचल होगी ?--चंचलता को प्राप्त हुई बुद्धि निश्चंचल कैसे होगी ?--जब व्यक्ति चंचलता के कारणस्वरूप 'श्रोतव्य' और 'श्रुत' को दूर करेगा। चंचलता के ये कारण दूर कैसे होंगे ?--जब इनके प्रति विरक्ति का भाव उपजेगा। यह विरक्ति का भाव कैसे आएगा ?--जब बुद्धि मोह के कीच को पार करेगी। तो, मोह ही आदि-बाधा है। उसके नष्ट हुए बिना साधना में कोई प्रगति न होगी। मोह-नाश से संसार के विषयों के प्रति विरक्ति होगी और फलस्वरूप चित्त की बिखरी हुई वृत्तियाँ सिमटकर निश्चल होंगी। इससे बुद्धि समाधि-वृत्ति में अचल होगी और अन्त में योग की प्राप्ति होगी।

हम कह चुके हैं कि मोह सत्ताधिकार को पैदा करता है। सत्ता इतनी आकर्षक है कि व्यक्ति उसी के सम्बन्ध में सुनना पसन्द करता है। ग्राम-पंचायत में सरपंच बनने से अमुक अमुक लाभ मिलेंगे; जनपद-पंचायत के अध्यक्ष होने से इतने गाँव हमारे अधिकार में रहेंगे; जिला प्रशासी परिषद् के सदस्य बनने पर हम बता देंगे कि हम भी कुछ हैं; विधायक या

संसद सदस्य चुने जाने पर मंत्री बनने की सम्भावना रहेगी, लोगों पर दबदबा रहेगा, हम वी. आई. पी. (अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति) हो जाएँगे; जहाँ जाएँगे, हमें सुविधा ही सुविधा मिलेगी, आई. ए. एस अफसर भी उठकर हमें सम्मान देगा, हमारे पीछे पीछे चलेगा——ये विषय वर्तमान काल के श्रोतव्य और श्रुत हैं। जो इन्हीं विषयों को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य मानता है, उसके लिए तो इनके पीछे भागते रहना स्वाभाविक है, पर जो योगरूप अनामय पद को प्राप्त होना चाहता है, उसके लिए यह सब मोह का दलदल ही है। यह दलदल बड़ा भयानक होता है। इसमें फँसने पर बली हाथी भी नहीं निकल पाता, वल्कि निकलने के प्रयास में और भी अधिक फँसता जाता है। तथापि योग की प्राप्ति की इच्छा करने-वाले व्यक्ति को तो किसी भी प्रकार इस मोह-दलदल को पार करना ही पड़ता है। इसका एकमात्र उपाय है इन श्रोतव्य और श्रुत विषयों के प्रति उबकाई का भाव पैदा करना। जब तक उनके प्रति आकर्षण बना हुआ है, तब तक दलदल से निकलना सम्भव नहीं। दलदल से निकलने के लिए पीछे आना होगा, और पीछे आने के लिए दोष-दर्शन आवश्यक है, जिसकी चर्चा हमने पिछले प्रवचन में की है। दोष-दर्शन के लिए विवेक अपेक्षित है। विवेकी के लिए ये सारे आकर्षक विषय दुःखरूप ही भासते हैं। यह

विवेक ही मोह की दवा है। विवेक के बल पर साधक को सत्ताधिकार में दोष का दर्शन करना चाहिए। यदि उसे आई. ए. एस. के प्रति आकर्षण है, तो उसे उसकी हेयता पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार एक सड़क-छाप नेता भी उस पर धौंस जमा देता है; कैसे उसे ऐसे लोगों की खिदमत करनी पड़ती है, जिन्हें बस चलते वह जेल में ठूँस देता; कैसे उसे उन बदमाशों और दुराचारियों की जी-हुजूरी करनी पड़ती है, जो राजनीति के बल पर शासन की धुरी बन बैठते हैं। जिसमें थोड़ा भी आत्म-सम्मान है, वह ऐसी परिस्थितियों से समझौता नहीं कर सकता। जीवन की उन घटनाओं पर व्यक्ति को सजग होकर विचार करना चाहिए, जो उसके आत्म-सम्मान को चोट पहुँचाती हैं और इस प्रकार उसे लुभावनी सत्ता में दोष-दर्शन करना चाहिए। मोह के कारण हमें दोष में भी गुण दिखायी देता है। कभी कभी हमें संसार की घटनाओं से उबकाई तो आती है, पर हम अपने को छलावा देते हैं--देखो, हर जगह तो दोष लगा ही रहेगा, पर यह जो मैं आई. ए. एस. अधिकारी हूँ, उसके द्वारा कितने क्षेत्रों का भला कर सकता हूँ। क्या हुआ अगर उस सड़क-छाप नेता ने मेरा अपमान कर दिया, पर मैं अपने अधिकार के उचित उपयोग के द्वारा कितने गरीबों का भला कर सकता हूँ, कितने गाँवों में कुएँ खुदवा सकता हूँ, कितने निर्धन छात्रों

की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध कर सकता हूँ ! और यह तर्क हमारी उबकाई को रोक देता है। जब तक हमें दोष में एक भी गुण दिखायी देगा, हम दोष से मुक्त नहीं हो सकते।

इसी प्रकार, जो साधक राजनैतिक पद के आकर्षण में फँसा हुआ है, उसे उस पद में निहित दोषों को देखना चाहिए--कैसे जोड़-तोड़ करनी पडती है, रूठे हुए लोगों को मनाना पड़ता है, फुसलाना पड़ता है, सत्ता पर बने रहने के लिए ऐसे लोगों के हाथ-पैर जोड़ने पड़ते हैं, जो चरित्रहीन और दुष्कर्मी हैं। इस प्रकार दोष-दर्शन करते रहने से बुद्धि मोह के दलदल को पार करने की क्षमता प्राप्त करेगी। ऐसा दोष-दर्शन 'विवेक' है और उसके फलस्वरूप उबकाई आना 'वैराग्य' है। इस विवेक-वैराग्य को दृढ़ करना पड़ता है। इसके लिए बीच बीच में निर्जन में जाकर ईश्वर को पुकारने की सलाह श्रीरामकृष्ण देते हैं। वे और भी कहते हैं कि मन दूध है और संसार जल। आज मन संसार में उसी प्रकार मिल गया है, जैसे दूध जल में मिल जाता है, पर यदि दूध को दही जमाकर, उसे मथकर मक्खन निकाल लें, तो अब यह मक्खन जल में नहीं मिलता, अपितु उस पर तैरता है। इसी प्रकार हमें अपने मनरूपी दूध का मक्खन बना लेना चाहिए। विवेक-वैराग्यपूर्वक किया गया कर्मयोग हमारी बुद्धि को

शुद्ध करेगा और श्रोतव्य-श्रुत के आकर्षण हमें फीके और नीरस लगेंगे। हमारा जी उनसे ऊबने लगेगा। पहले-पहल कर्मयोग का अभ्यास हमें कड़ुवा लगता है और श्रोतव्य और श्रुत मीठे लगते हैं। हमारी अवस्था उस पित्तरोगी के समान होती है, जिसे मिश्री कड़ुवी लगती है; परन्तु पित्त के शमन का उपाय भी मिश्री का चूसना ही है। और जब चूसते चूसते मिश्री मीठी लगने लगे, तब समझना चाहिए कि रोग दूर हो रहा है। इसी प्रकार कर्मयोग प्रारम्भ में भले ही कड़ुवा लगे, पर उसका सतत अभ्यास जब हमारे मोह-राग को क्षीण करने लगेगा, तब कर्मयोग में मिठास का अनुभव होगा और श्रोतव्य-श्रुत हमें कड़ुवे लगेंगे। यही 'मोहकलिल को पार करने' तथा 'निर्वेद को प्राप्त होने' की अवस्था है। अभी तक हमारी बुद्धि सत्ता के बहुविध आकर्षणों के कारण विक्षिप्त बनी हुई थी——अत्यधिक चंचल थी, ऐसा लगता था कि यहाँ जाऊँ या वहाँ, इसे पकड़ूँ या उसे, पर अब कर्म-योग का अनुष्ठान उसे शुद्ध कर देता है, मन के मल को धो देता है, जिसके फलस्वरूप चित्तवृत्तियों की चंचलता नष्ट होती है और बुद्धि निश्चल हो जाती है। विवेक और वैराग्य के अभ्यास से हमारा मोह दूर होता है। अब कोई भी तर्क हमें फल-प्राप्ति के लिए उद्वेलित नहीं कर पाता। निश्चलता की व्याख्या ही यों की जाती है——'तर्कैः प्रतिहन्यमानापि

विचलनरहिताः निश्चलाः'--कोई कितना भी तर्क-वितर्क करे, तरह तरह के प्रमाण दे, पर हमारी निष्ठा नहीं डिगती। यही बुद्धि की निश्चल अवस्था है। चंचल बुद्धि भोथरी होती है, पर निश्चल बुद्धि में पैना-पन होता है। निश्चल बुद्धि में अपने ही ऊपर एकाग्र होने की क्षमता पैदा होती है। इसी को 'समाधि-वृत्ति में बुद्धि का अचल होना' कहा है।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण बुद्धि के लिए दो विशे-षणों का उपयोग करते हैं--निश्चल और अचल। बुद्धि के शान्त होने में दो प्रकार की बाधाएँ हैं--एक, बाहर की और दूसरी, स्वयं अपने भीतर की। जब बाहर की बाधा दूर होती है, तो बुद्धि निश्चल होती है और जब अपने भीतर की बाधा भी नष्ट हो जाती है, तो बुद्धि अचल होती है। इन्द्रियाँ और उनके विषय--ये बाहर की बाधा हैं और स्मृति, भीतर की। अपने मन को इन्द्रियों और उनके विषयों से तो हटा लिया और इस प्रकार उसे निश्चल कर लिया, पर सम्भव है कोई बात याद आ जाय और वह उसे चलायमान कर दे। जब स्मृति की यह बाधा भी समाप्त होती है, तब बुद्धि अचल हो जाती है। इसे यों भी समझा जा सकता है--जब हम अपने मन की बिखरी हुई वृत्तियों को इन्द्रियों एवं उनके विषयों से समेटते हैं, तो उसे निश्चलता की अवस्था माना जा सकता है और जब उन समेटी गयी वृत्तियों को हम

मन के अपने ही ऊपर एकाग्र करते हैं, तो उसे अचलता की अवस्था कहा जा सकता है। सामान्य रूप से संसार में मनुष्य अपनी अभिरुचि के विषय में तो अपने मन को समेट लेता है, पर वह अपनी चित्तवृत्तियों को अपने मन के ही ऊपर एकाग्र नहीं कर पाता। जिसे चित्रकारी में रुचि है, वह जब अपनी कला में डूबा होता है, तो वह बाह्य विषयों से अपने मन की वृत्तियों को समेटकर अपनी कला पर एकाग्र कर लेता है। उसी प्रकार जिसे संगीत में रुचि है, वह अपने मन को अन्य विषयों से समेटकर संगीत में केन्द्रित कर लेता है। पर यह योग की वह स्थिति नहीं, जिसमें बुद्धि अचल हो जाती है। यह बुद्धि की निश्चलता या एकाग्रता की स्थिति है। किन्तु जिस समय हम अपनी चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से समेटकर स्वयं अपनी बुद्धि के ऊपर एकाग्र करते हैं, तो अचलता की स्थिति पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप हमें योग प्राप्त होता है। 'समाधौ अचला' का यही तात्पर्य है।

टीकाकारों ने 'योग' शब्द का अर्थ भी कई प्रकार से किया है। किसी ने उसका अर्थ भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करना माना है, तो किसी ने आत्मदर्शन। कोई उसे बुद्धियोग के अर्थ में लेते हैं, तो कोई जीवन्मुक्ति के रूप में। आचार्य शंकर उसका अर्थ 'विवेकप्रज्ञा-समाधि' करते हैं, जिसका तात्पर्य होता

है 'विवेक-बुद्धिरूपा समाधिनिष्ठा'। सभी अर्थों का एक ही तात्पर्य ध्वनित होता है। हमने यहाँ पर योग को बुद्धियोग के रूप में ग्रहण किया है, जो समत्व बुद्धि और निष्काम कर्मयोग का ही सूचक है ।

तो, इस प्रकार हमने यहाँ पर योग-प्राप्ति के उपायों पर विचार किया। यह देखा कि जीवन में जब तक फलाशा बनी हुई है, तब तक योग हमसे दूर है। शास्त्र-ग्रन्थों में स्वर्गादि के बड़े प्रलोभन दिये हुए हैं, जिससे लोग अच्छाई के रास्ते चल सकें। वहाँ तरह तरह के कर्मानुष्ठानों की चर्चा है, जिनके बल पर स्वर्ग में प्राप्त होनेवाले सुख की मात्रा में तारतम्य हुआ करता है। इन सब यज्ञ-याग और कर्मानुष्ठानों की बात पढ़कर व्यक्ति की बुद्धि का चकरा जाना बड़ा स्वाभाविक है। उन सब फलों की बातों का सुनना बड़ा आकर्षक मालूम होता है और जब तक वहाँ आकर्षण विद्यमान है, मन योग की ओर आकर्षित नहीं हो पाता, क्योंकि योग में वैसा कुछ भौतिक आकर्षण तो है नहीं। तब प्रश्न उठता है कि मन फिर योग की ओर जाए ही क्यों? जिस रूप को आँखें देखकर सुख का अनुभव करती हैं, जिस शब्द को कान सुनकर हर्ष का अनुभव करते हैं, जिन विषयों का भोग करते हुए रसना, स्पर्श और घ्राण की इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष सुख का अनुभव करती हैं, उस रूप, उस शब्द, उन विषयों को छोड़कर

योग की ओर व्यक्ति क्यों आकर्षित हो? उसका उत्तर यह कहकर दिया गया है कि योग से अनामय पद प्राप्त होगा, जहाँ न क्लेश है, न दुःख, न भय, न शोक, न दोष, न दारिद्रय। इन्द्रियों के सुख में क्लेश, दुःख, भय, शोक, दोष, दारिद्रय सभी विद्यमान हैं। ऐसा विवेक करते हुए संसार के इन्द्रिय-सुखों से विरक्ति का अनुभव करने के लिए कहा गया, जिससे बुद्धि सांसारिक आकर्षण के दलदल को पार कर ले सके। जब जीवन में यह निर्वेद आता है, तब संसार के समस्त भोग तुच्छ मालूम पड़ते हैं, स्वर्गादि भी हेय लगते हैं। कर्मयोग का अभ्यास करते करते इस लोक और वेदोक्त परलोक दोनों के सुखों से वैराग्य होता है और हम योग में अधिष्ठित हो जाते हैं।

परन्तु यह योग-प्राप्ति समय-सापेक्ष नहीं है, वह साधन-सापेक्ष है। लोग पूछा करते हैं---अच्छा, यदि हम योग को पाना चाहें, तो कितना समय लगेगा? अब इसका क्या उत्तर दिया जाय? यदि कोई आपसे पूछे कि मैं ऋषिकेश से पैदल ही बदरीनाथजी के दर्शन करने जाना चाहता हूँ, कितना समय लगेगा, तो इस प्रश्न का आप क्या उत्तर देंगे? यही कहेंगे कि भाई, हमें क्या पता तुम कितने वेग से चलोगे? यदि अधिक वेग से चलो, तो शीघ्र पहुँच जाओगे और यदि धीरे चलो, तो समय अधिक लगेगा।

फिर यदि रुक-रुककर चलो, तब तो और भी विलम्ब होगा। उसी प्रकार योग की यह साधना है। जो जितनी तत्परता और निष्ठा के साथ साधना करेगा, उसे लक्ष्य की प्राप्ति उतनी ही शीघ्रता के साथ होगी। महर्षि पतंजलि ने भी अपने 'योगसूत्र' (१/२१) में कहा है—'तीव्रसंवेगानामासन्नः'—'जिनके साधन की गति तीव्र है, उनकी (साधना) शीघ्र (सिद्ध) होती है।' और यह कहकर वे अगले सूत्र (१/२२) में कहते हैं—'मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः' —'साधन की मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होने के कारण तीव्र संवेगवालों में भी (काल का) भेद हो जाता है।' उपर्युक्त सूत्रों में 'वेग' और 'मात्रा' ऐसे दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभ्यास और वैराग्य का जो क्रियात्मक बाह्य स्वरूप है, उसे 'वेग' के नाम से कहा गया है, और उनका श्रद्धा-विवेक आदि के रूप में जो भावात्मक आभ्यन्तर स्वरूप है, वह उनकी 'मात्रा' या दर्जा है। 'वेग' शरीर के स्तर पर दिखायी देता है और मात्रा मन के स्तर पर अनुभव में आती है। वेग पर-संवेद्य भी होता है, पर 'मात्रा' केवल स्वसंवेद्य होती है। 'वेग' में क्रिया की प्रधानता होती है, जबकि 'मात्रा' में भाव, श्रद्धा, विवेक की। क्रियात्मक साधना के तीव्र होने पर भी श्रद्धा, विवेक और भाव की न्यूनाधिकता के कारण योग की सिद्धि में काल का भेद स्वाभाविक

है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। एक गुरु के तीन शिष्य हैं और वे साधना करते हुए गुरु के ही साथ रहते हैं। गुरु सदैव शिष्यों को ईश्वर-प्राप्ति के लिए उत्साहित करते रहते हैं और साधना पर बहुत बल देते हैं। उन्होंने अपने शिष्यों के लिए साधना हेतु एक क्रम बना दिया है। ये तीनों शिष्य, ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाते हैं, एकसाथ साधना में बैठते हैं, सारी कठोरता एकसाथ करते हैं, पर क्या सिद्धि भी इन्हें एकसाथ मिलेगी ?——नहीं। सिद्धि तो उनकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करेगी। बाहरी दृष्टि से वे सब के सब साधना में समान तीव्रता प्रदर्शित करते हुए भी भीतरी दृष्टि से समान नहीं हैं। उनमें से जिसमें श्रद्धा, विवेकशक्ति और भाव साधारण हैं, उसकी साधना मृदुमात्रावाली होगी। जिसमें श्रद्धा, विवेक-शक्ति और भाव कुछ उन्नत हैं, उसकी साधना मध्यमात्रावाली होगी और जिस शिष्य में श्रद्धा विवेक और भाव अत्यन्त उन्नत हैं, उसकी साधन अधिमात्रावाली होगी। साधना में क्रिया की अपेक्षा भाव का अधिक महत्त्व है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक ही काम के लिए समान रूप से परिश्रम किया जाने पर भी जो व्यक्ति उसकी सिद्धि में अधिक विश्वास रखता है, जिसे उस काम के करने की युक्ति का अधिक ज्ञान है तथा जो प्रेम और उत्साह के साथ उसे बिना उकताये करता रहता है,

वह दूसरों की अपेक्षा उसे शीघ्र पूरा कर लेता है। इसी प्रकार योग की प्राप्ति के लिए भी समय साधन की तीव्रता पर निर्भर करता है। यही श्लोक में आये 'तदा' शब्द का तात्पर्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पुरुषार्थ के द्वारा अपने विकास की गति तीव्र कर योग को शीघ्र पा ले सकता है। इसके वैज्ञानिक पक्ष पर हमने अपने २२वें गीता, प्रवचन में विस्तार से प्रकाश डाला है। अस्तु।

अर्जुन ने अपने मन में जो प्रश्न उठाया था, उसका सम्यक् उत्तर उसे भगवान् कृष्ण से मिल गया। उसने समझ लिया कि योग की प्राप्ति कब और कैसे सम्भव होगी। भगवान् ने सांख्यबुद्धि का शास्त्र भी बतला दिया और योगबुद्धि की कला भी। जैसे शास्त्र और कला, सिद्धान्त और व्यवहार एक दूसरे की परिपूर्णता साधित करते हैं, उसी प्रकार ये दोनों बुद्धियाँ भी परस्पर परिपूरक हैं। पर केवल दोनों के मिलन मात्र से व्यक्ति का समाधान नहीं होता। उसे केवल सिद्धान्तों से समाधान नहीं होता। वह ठोस ऐसा उदाहरण चाहता है, जहाँ आकर सिद्धान्त रूपायित हो गया हो। अब तक भगवान् कृष्ण ने शास्त्र की, सिद्धान्त की जो बातें कही, वे तो निर्गुण थीं ही, उन्होंने व्यवहार की, कला की भी जो बातें कहीं, वे भी आकारहीन ही थीं, भले ही वे सगुण थीं। और जब तक कोई सिद्धान्त सगुण-साकार न हो

जाय, तब तक व्यक्ति उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता। उसे संशय बना रहता है कि ये सिद्धान्त केवल बात की बात ही तो नहीं हैं। इसीलिए वह निर्गुण को गुण के रूप में अभिव्यक्त देखना चाहता है और गुण को किसी गुणी में मूर्तिमान् हुआ। जब अर्जुन सुनता है कि कर्मफल का त्याग करनेवाले बुद्धियोगी मनीषी जन्म के बन्धन से छूटकर अनामय पद को प्राप्त हो जाते हैं, तो उसे उत्कण्ठा होती है कि ऐसे मनीषी और फलत्यागी संसार में किस प्रकार रहते होंगे। यह सारा संसार तो फलाशा का ही खेल है; यहाँ ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो बिना किसी फलाशा के की जाय। छोटी से छोटी क्रिया भी किसी न किसी फल को पाने ही के लिए होती है। ऐसी दशा में जीवन के बड़े से बड़ा कर्म करना पर कहीं भी फल की कोई इच्छा न होना यह एक पहेली-सा मालूम पडता है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार की फलाशा नहीं रखता, तो वह कर्म करेगा ही क्यों? ये ऐसे प्रश्न थे, जो अर्जुन को पीड़ित कर रहे थे। और जब उसने योग को प्राप्त करने की शर्तें सुनीं कि बुद्धि को मोह के दलदल से पार हो जाना चाहिए, मनुष्य को सारे श्रोतव्य और श्रुत से निर्वेद को प्राप्त हो जाना चाहिए, बुद्धि को निश्चल और समाधि में अचल कर लेना चाहिए, तो उसे ऐसा लगा कि ऐसा व्यक्ति कहीं अजायबघर में रखनेलायक तो

नहीं है ? उसे सन्देह हुआ कि वास्तविक जीवन में क्या ऐसा कोई व्यक्ति हो सकता है ? इसी लिए वह भगवान से पूछता है, "भगवन्, आपने जीवन के मुख्य सिद्धान्त बतला दिये, उन सिद्धान्तों को आचरण में लाने की कला भी बतला दी, फिर भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नहीं होता। अतः मुझे अब इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषों के सम्बन्ध में, बताइए, जिनकी बुद्धि योग में प्रतिष्ठित हो गयी है तथा जिनकी रग रग में फलत्याग व्याप्त हो गया है।"

अर्जुन अपना यह प्रश्न जिस भाषा में करता है, उसकी चर्चा अगले प्रवचन में की जायगी।

•

धर्म-साधना

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण सघ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने ७ फरवरी १९७८ को श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर में भक्तों को अँगरेजी में जो सम्बोधन किया था, प्रस्तुत लेख उसका सार है। --स०)

धर्म-साधना क्या है ? सामान्यतया हमें धर्म के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा नहीं होती। हम सोचते हैं कि सामान्य रूप से हम जो करते हैं,--जैसे, थोड़ी पूजा कर लेते हैं या मन्दिर चले जाते हैं या व्रत-उपवास कर लेते हैं--यही धर्म है। इसके अलावे, ऐसे

बहुत से अन्धविश्वास हैं, जो हमारे दैनिक जीवन में पैठ गये हैं और जिन्हें हम धर्म समझा करते हैं। कुछ लोग हैं, जो लोकाचार को धर्म मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द अपनी पुस्तक 'चिन्तनीय बातें' में कहते हैं कि हिन्दू धर्म इतना व्यापक है कि उसमें भगवान् को पाने के लिए विभिन्न मार्ग हैं तथा इस महान् मन्दिर के बहुत से दरवाजे हैं। लोग इस मन्दिर की ओर दौड़े तो जा रहे हैं, पर कोई इसके भीतर प्रविष्ट नहीं होता। मन्दिर के बाहर, दरवाजे के पास, एक मूर्ति खड़ी है, और सब लोग इस मूर्ति की ही पूजा करते हैं। एक व्यक्ति उस मूर्ति के पास खड़ा था। जब उससे उस मूर्ति के बारे में पूछा गया, तो वह बोला, "मन्दिर के अन्दर जो देवता है, उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। कभी-कभार उस पर हम लोग एक फूल या कोई पत्ती चढ़ा देते हैं और वह उस देवता के लिए पर्याप्त है। पर दरवाजे पर यह जो मूर्ति है, इसकी पूजा तो रोज ही करनी पड़ती है; अन्यथा हम मुश्किल में पड़ जाएँगे।" पूछा गया कि यह मूर्ति किसकी है, तो उसने बताया कि यह लोकाचार है! तो, हम देखते हैं कि इस लोकाचार ने धर्म का स्थान ले लिया है। स्वामी विवेकानन्द हमें बतलाते हैं कि यह सब धर्म नहीं है। धर्म तो अनुभूति है। श्री शंकराचार्य भी कहते हैं, "तुम भले (तीर्थों की) यात्रा कर डालो, या (देवताओं को) फूल चढ़ाओ, या

दान आदि दो, जो कुछ भी करो, पर वह तुम्हें मुक्ति नहीं दिला सकता। इस प्रकार की मात्र क्रियाएँ तुम्हें मुक्ति की ओर नहीं ले जा सकतीं। वह तो ज्ञान है, जो मुक्ति में तुम्हारा सहायक होता है। ज्ञान के बिना इन सब क्रियाओं के द्वारा एक सौ जीवन में भी तुम मुक्ति नहीं पा सकते।" स्वामी विवेकानन्द ने भी यही कहा। वे तो अनुभूति को ही धर्म मानते थे इसी लिए जब वे नरेन्द्रनाथ थे, तो उन्होंने धर्म के आचार्यों और पण्डितों से मिलकर यही एक प्रश्न पूछा था कि 'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' किसी ने उनके प्रश्न का सकारात्मक उत्तर नहीं दिया। केवल श्रीरामकृष्ण ही थे, जिन्होंने कहा, "हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है और मैं उनसे वैसे ही बात करता हूँ, जैसे तुमसे करता हूँ।" आधुनिक विज्ञान ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण चाहता है। वैज्ञानिकगण ईश्वर में विश्वास या उसे स्वीकार इसलिए नहीं कर पाये कि उसका कोई प्रमाण नहीं है। उनका मत था कि बिना प्रमाण का ईश्वर कोई ईश्वर ही नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर की जो साक्षात् उपलब्धि की, वह ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है, और वैज्ञानिक जगत् ने श्रीरामकृष्ण से उत्तर प्राप्त किया। स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'राजयोग' नामक ग्रन्थ में धर्म की व्याख्या की है। वे कहते हैं, "प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके

आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।" जीवन का लक्ष्य मुक्ति है। अतः यही धर्म का सार है। स्वामीजी के अनुसार, मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण अंग-प्रत्यंग मात्र हैं। वे प्राथमिक महत्त्व के नहीं हैं। ब्रह्मभाव या दिव्यता की अभिव्यक्ति का, मुक्ति का प्राथमिक महत्त्व है।

मुक्ति किससे? बन्धन से। बन्धन क्या है? बन्धन अज्ञान है, जो सत्य को ढाँक देता है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः (गीता, ५/१५)'--अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत है और वही मोह का कारण है। हम भूल गये हैं कि हम दिव्य हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं, हम नित्य मुक्त हैं। इसका कारण हमारा अपना अज्ञान है। जब ज्ञान के द्वारा अज्ञान दूर होता है, तब हम मुक्त हो जाते हैं।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि सारे धर्म सत्य हैं। श्रीरामकृष्ण ने अपनी अनुभूतियों से सिद्ध कर दिया है कि सारे धर्म उसी एक लक्ष्य तक ले जाते हैं। विभिन्न धर्म एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के मानो अलग अलग रास्ते हैं। सभी धर्म इसलिए सत्य हैं कि उनमें से प्रत्येक में हम मुक्ति-प्राप्ति के इन प्राचीन एक या एकाधिक मार्गों को सन्निविष्ट पाते हैं--कर्म, भक्ति,

ज्ञान या योग। उदाहरणार्थ, ईसाई और इसलाम धर्मों में भक्ति पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा व्यक्ति ईश्वर को पा सकता है। बौद्ध धर्म ज्ञान और योग पर अधिक बल देता है। इस प्रकार अलग अलग धर्म विभिन्न मार्गों का उपदेश करते हैं। पर सत्य एक है, जैसा कि ऋग्वेद ने कहा है--'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

गीता में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन को 'ध्यानयोग' पर उपदेश देते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है (६/३३)--

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥

--"हे मधुसूदन, आपने जिस ध्यानयोग के समत्व का प्रतिपादन किया, मन की चंचलता के कारण मैं उसकी ठहरनेवाली स्थिति नहीं देखता (इसलिए वह मुझे व्यावहारिक नहीं मालूम पड़ता)।" श्रीकृष्ण इसके उत्तर में अर्जुन की बात को नहीं काटते, बल्कि वे उसे स्वीकार करते हैं। और यह सत्य भी है कि मन को वश में करना बड़ा कठिन है। अर्जुन जैसा व्यक्ति भी, जिसने जाने कितने युद्ध जीते हैं, कितने महारथियों को हराया है, अपने को मन के सामने असमर्थ मानता है। इसी लिए वह कहता है कि मन का निग्रह मैं असम्भव मानता हूँ। श्रीकृष्ण इसके उत्तर में कहते हैं--

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

—"हे महाबाहो, निस्सन्देह यह मन बड़ा चंचल और कठिनता से वश में आनेवाला है, पर हे कौन्तेय, इसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है।"

मन को निग्रह में लाने के लिए इन दो उपायों का निर्देश दिया गया है। यदि ध्यान और वैराग्य का नियमित अभ्यास किया जाय, तो मन को वश में लाना सम्भव हो सकता है। अभ्यास क्या है? प्रतिदिन एक निश्चित समय पर ध्यान की साधना करना अभ्यास कहलाता है। मान लो कि सुबह नाश्ते का तुम्हारा समय निश्चित है और तुम रोज ९ बजे नाश्ता करते हो, तो ठीक ९ बजे तुम्हें भूख लगने लगेगी। इसी प्रकार यदि तुम्हारा ध्यान का समय निश्चित है, तो उस अभ्यास के कारण तुम्हारा मन उस विशिष्ट समय ध्यान की साधना के लिए उन्मुख हो जायगा। अतएव समय निश्चित कर लेना एकदम आवश्यक है, और प्रत्यह ऐसे निश्चित समय पर ध्यान करना अभ्यास है। फिर, अभ्यास का तात्पर्य यह भी है कि ध्यान के समय जब भी हमारा मन ध्यान के विषय से बाहर चला जाए, तो उसे वापस लाकर पुन: उस विषय पर केन्द्रित करना। वह एक प्रकार की रस्साखींच है। मन ईश्वर पर चिन्तन करने के तुम्हारे आदेश को नहीं मानेगा, तब तुम उसे पकड़कर फिर से लाओगे और ईश्वर

का चिन्तन करने लगाओगे। उदाहरण के लिए एक बच्चे को लो। यदि कोई शिक्षक बच्चे को सिखाना चाहता है, तो उसे बच्चे के पास बैठकर सिखाना होगा। यदि शिक्षक का ध्यान थोड़ा भी इधर-उधर हो जाय, तो बच्चा उसके पास से भाग जाता हैं। तब शिक्षक दौड़कर बच्चे को पकड़ता है, वापस पढ़ने की जगह पर लाता है और उसे पढ़ाई में लगाता है। इसी प्रकार मन को भी बारम्बार पकड़कर वापस लाना होगा और ईश्वर के चिन्तन में लगाना होगा। इसे अभ्यास कहा जाता है। इसमें नित्य का ध्यानाभ्यास तो सम्मिलित है ही, साथ ही जब भी मन ध्यान के विषय से विमुख हो जाय, तो उसे पकड़कर ईश्वर के चिन्तन में लगाना भी इस अभ्यास के ही अन्तर्गत आता है।

अब, हमारे पुराने संस्कारों और हमारी वासनाओं के कारण हमारा मन इन्द्रिय-विषयों के पीछे दौड़ता है और फलस्वरूप चंचल हो जाता है। यदि तुम सरोवर में कंकड़ डालो, तो जल की सतह पर लहरें उठ आएँगी। ऐसे चंचल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बहुत साफ नहीं दिखायी देगा। जल को बिलकुल स्वच्छ और शान्त होना पड़ेगा। सरोवर में एक भी-लहरी नहीं रहनी चाहिए, तभी चन्द्रमा का ठीक ठीक प्रतिबिम्ब उसमें दिखेगा। उसी प्रकार चित्तरूपी सरोवर में जब तक वृत्तिरूप लहरियाँ रहती हैं, तब तक आत्मारूप चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उसमें ठीक ढंग से

नहीं पड़ता। आत्मा का प्रतिबिम्ब देखने के लिए चित्त सरोवर का एकदम शान्त होना आवश्यक है। और चित्त-सरोवर को शान्त होने के लिए उसे वासनाओं से मुक्त होना होगा। ऐसे वृत्तिहीन शुद्ध मन में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं। इसके लिए वैराग्य का अभ्यास करना पड़ता है। अर्थात् विवेक-विचार करते हुए वासनाओं का त्याग करना पड़ता है। वासनाओं के त्याग से मन लहरियों से विक्षुब्ध नहीं होगा, वह स्थिर और शान्त होगा। इस अवस्था की प्राप्ति ही योग का लक्ष्य है। पतंजलि अपने 'योगसूत्र' (१/२) में लिखते हैं--'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'--चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।

इस प्रकार, मन के निग्रह के लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक हैं। हमें इनका अभ्यास दीर्घकाल तक करना पड़ता है। हमें बुरे संस्कारों को विपरीत संस्कारों यानी अच्छे संस्कारों की सहायता से दूर करना पड़ता है। इस अभ्यास के साथ ईश्वर का सतत चिन्तन आवश्यक है। तभी तो श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (गीता, ८/७)--'इसलिए तू निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर।' हमें ईश्वर का स्मरण और चिन्तन साथ साथ करना चाहिए। हमें सतत उनसे प्रार्थना करनी चाहिए। हमें निरन्तर उनके नाम का जप करना चाहिए। जब हम उनका सतत स्मरण-चिन्तन

करेंगे, तो हमारा मन धीरे धीरे विषयों की ओर भागने का अपना अभ्यास छोड़ेगा। अतः अपने मन को अन्तर्मुखीन करो और उसे सतत ईश्वर में लगाये रखो। इसकी सिद्धि के लिए जप का निर्देश दिया जाता है। मंत्र वह है, जो तुम्हारे मन को बाह्य संसार से खींचकर भीतर प्रभु के पादपद्मों में लगाता है। मंत्र के निरन्तर जाप से मन को वश में किया जा सकता है। मन के स्वभाव को बदलने के लिए मंत्र का सतत जाप नितान्त आवश्यक है। जब अध्यवसाय के साथ उपर्युक्त साधनाओं का अभ्यास किया जाता है तभी मन का निग्रह सम्भव हो पाता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "ईश्वर को पाने के लिए ऋषि-मुनियों ने जप-ध्यान आदि का अभ्यास जन्म-जन्मान्तरों तक किया है और तुम चुटकी मारते ही उनके दर्शन पाना चाहते हो? क्या यह सम्भव है?" श्रीरामकृष्ण हमारे अपने युग में आये और सबके लिए ईश्वर-दर्शन का पथ सुलभ बना गये। इस युग में व्यक्ति तनिक-सी साधना से ईश्वर की उपलब्धि सुगमतापूर्वक कर सकता है। मन्दिर में भीतर से जो सिटकिनियाँ लगी हुई थीं, उन सबको श्रीरामकृष्ण ने आकर खोल दिया है। यदि सिटकिनियाँ खुल जाएँ, तो दरवाजे को खोलने में कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। हमें बस दरवाजे को थोड़ा धक्का भर देना पड़ता है कि दरवाजा खुल जाता है

और श्री विग्रह के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार यदि तुम निष्ठापूर्वक थोड़ा अभ्यास करो, तो दरवाजे खुल जाएँगे और तुम्हें दर्शन होंगे। ईश्वरोपलब्धि य : करना चाहते हो, तो दरवाजे को धक्का देने का सामान्य श्रम तो तुम्हें उठाना ही पड़ेगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "पहले ईश्वर को पा लो और तब संसार का ग्रहण कर सकते हो।" ईश्वर को बिना पाये यदि तुम संसार के पास जाओ, तो सम्भव है कि तुम संसार खो जाओ। यह अवश्यमेव स्मरणीय तथ्य है।

अतएव, याद रखो कि ईश्वरानुभूति हमा. जीवन का लक्ष्य है और उसके बिना हम संसार केवल भटकते रहेंगे। आज तो संसार के समक्ष को लक्ष्य नहीं है। अधिकांश लोग जानते नहीं कि इ जीवन का क्या लक्ष्य है। श्रीरामकृष्ण ने इ लक्ष्य का हमें पता दिया। उन्होंने मानवता समक्ष एक दैवी लक्ष्य रखा, वह यह कि हमें ईश्व की अनुभूति करनी है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता कि वे हमें शक्ति दें, जिससे हम इस अनुभूति के लिए यथोचित साधना कर सकें और इस जीवन में ही सत्य का साक्षात्कार कर ले सकें। प्रभु हम पर कृपा करें और इसी जीवन में अपनी उपलब्धि का पथ हमारे लिए प्रशस्त कर दें, जिससे यह उपलब्धि अगले जीवन के लिए न टल जाए।

●